दक्षिण-पथ

इ-त्सिंग और भारत-यात्रा

[चीनी यात्री इ-त्सिंग का जीवन-चरित्र तथा मार्मिक यात्रा वर्णन]

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,

शिक्षा और समाज कल्याण मन्त्रालय,

भारत सरकार की ओर से भेंट।

लेखक

जयकान्त मिश्र

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स

बाँके विलास, आगरा–३

१९७२

मूल्य

पाँच रुपये

मुद्रक

दी एज्युकेशनल प्रेस, आगरा–२

दो शब्द

प्रस्तुत कृति का नायक भारत मे उस समय आया था, जिम समय भारत का इतिहास-ज्ञान अन्धकारमय हो रहा था, उसकी शृखलता टूट गई थी और बडे-बडे इतिहासकार भ्रम मे पडे हुए थे। इतिहास का आँगन, भारत के उस ममय के विवरण-बिना सूना लगता है। मैंने बडे यत्न, परिश्रम और बहुत-सी पुस्तको की छान-बीन करके हिन्दी-ससार के उम सूनेपन को खोने का प्रयत्न किया है। इस छोटी-सी पुस्तक मे उस समय के भारत की प्राय: सभी ज्ञातव्य बाते आ गई है। मैंने पुस्तक मे राजनीतिक इतिहास को उतना महत्त्व नही दिया है, जितना सामाजिक, धार्मिक, सास्कृतिक, शिक्षणात्मक प्रभृति को। पुम्तक को सहज और सरल बनाने के लिए मैंने अपनी लेखनी थाम-थामकर और स्वतन्त्र रूप से चलाई है। मैं सफलता के निकट कहाँ तक गया हूँ, यह पाठक ही कह सकेंगे।

—जयकान्त मिश्र

उपक्रमणिका

१—जन्म और छात्र-जीवन

भारत के प्रति इ-त्सिंग का विचार—भौतिक प्रलोभन का नहीं; बुद्धमय* एवं अध्यात्ममय; भारत पर उसकी श्रद्धा; उसका जन्म* (६३५ ई०); नामकरण; बाल्य का स्वभाव, प्रवृत्ति।

चीन में बौद्ध-धर्म का प्रसार-काल—सम्राट् मिङ्ग-ति का शासन-काल; काश्यप, भारण (धर्मरक्ष), मातङ्ग प्रभृति श्रमणों-द्वारा चीन में बौद्ध-धर्म का प्रचार, चीन मे बौद्ध-धर्म की शिक्षा की तत्कालीन व्यवस्था; तत्कालीन चीनी भ्रमणकर्ता और भारत आने का उनका उद्देश्य; भारत से लौटे हुए चीनियों का स्वदेश में सम्मान; चीन का प्रथम भारत-यात्री—फा-हियेन; उसका भ्रमण-वृत्तान्त-ग्रन्थ—फी-कुये-की; उसके बाद और इ-त्सिंग के पहले के चीनी भारत-यात्री; ह्वेन-थ्साङ्ग की यात्रा-पुस्तक—सि-यू-की (पश्चिमी राज्य का इतिहास); ह्वेन-थ्साङ्ग का अनुवाद-कार्य।

तत्कालीन चीन की सामाजिक परिपाटी के अनुसार बालक इ-त्सिंग की शिक्षा-दीक्षा; बौद्ध-धर्म की शिक्षा में

प्रवेश ; शिक्षा-स्थान—शन-तुङ्ग ; आचार्य—शन-यू और हुई-ह्सी ; अध्ययन-काल से ही भिक्षु बनने की प्रवृत्ति ; आचार्य शन-यू की मृत्यु से गहरी चोट ; संसार और तत्सम्बन्धी साहित्य के प्रति उदासीनता ; बुद्ध-वचनामृत से तृप्ति ; चौदह वर्ष की उम्र मे प्रव्रज्या ; ❀ बौद्धधर्म-शास्त्र मे तल्लीनता ; हुई-ह्सी-द्वारा दिये गये भगवान् बुद्ध के उपदेशों का इ-त्सिग पर प्रभाव—बुद्ध के उपदेशों के भ्रामक अर्थों का पर्दा-फाश ; उसकी गुरु,भक्ति ; बीस वर्ष की अवस्था में उपसम्पदा❀ ; उपसम्पदा के बाद ५ वर्षों तक विनय-ग्रन्थ❀ का अध्ययन ; फिर सूत्र-ग्रन्थो का अध्ययन ; १३ धूताङ्गों❀ में से कुछ का अनुष्ठान ; चंगतेह-फू जाकर अभिधर्म-पिटक से सम्बन्ध रखने वाले प्रसंग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने का गुरु के द्वारा प्रोत्साहन ; इन ग्रन्थों का अध्ययन ; फिर 'बुद्ध-धर्म-तत्त्व' की खोज मे सी-अन्-फू की यात्रा ; वसु-बन्धु-कृत 'अभिधर्म कोश' और धर्मपाल-कृत 'विद्यामात्र-सिद्धि' का अध्ययन ; सी-अन्-फू में ह्वेन-थ्साङ्ग से भेंट ; ह्वेन-थ्साङ्ग की मृत्यु और अन्त्येष्टि-क्रिया ।

भारत-यात्रा का इ-त्सिग का संकल्प ; यात्रा का उद्देश्य बौद्ध-साहित्य का अध्ययन ।

२—भारत की यात्रा

सी-अन्-फू से चो-चोऊ (जन्म-स्थान) वापस ; गुरु हुई-ह्सी से भारत जाने की आज्ञा ; इ-त्सिग के संकल्प से हुई-ह्सी को हार्दिक प्रसन्नता ; मृत गुरु की समाधि पर पूजा ;

इ-त्सिंग की यात्रा के साथी—सङ्कल्प निर्बल ; किसी ने अन्त तक साथ न दिया। राजदूत फेङ्ग हि सपासो-चूअन की सहायता से वह कङ्गतुङ्ग (कैण्टन) पहुँचा ; वहाँ से वह उक्त राजदूत के घर गया ; वहाँ से फिर कङ्गतुङ्ग वापस ; यात्रा के ग्यारहवें मास मे कङ्गतुङ्ग से ईरानी जहाज-द्वारा दक्षिण-समुद्र की यात्रा ; समुद्र-यात्रा करने के बीसवें दिन भोज* पहुँचा ; भोज मे छः मास रहकर वहाँ की भाषा, रहन-सहन, समाज, धर्म आदि का अध्ययन , संस्कृत का भी अध्ययन ; भोज के राजा-द्वारा सहायता , भोज मे दो बार संस्कृत, पाली एवं मूल बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन , भोज की प्रशंसा ; भोज और चीन के बीच व्यापार ; भारत और भोज के बीच समुद्री यातायात ; भोज का समाज, धर्म—मूल सर्वास्तिवाद निकाय से सम्बन्ध रखनेवाले हीनयान-मतवालों की संख्या अधिक—महायान-मतावलम्बी भी , भोज का रहन-सहन, भाषा ; उपज और औद्योगिक उत्पादन ; मुद्रा मे चाँदी-सोने का प्रयोग ; ऋतु ; यहाँ के पड़ोस के विभिन्न स्थानों का एक साल तक निरीक्षण करने के बाद क-च* से भोज-राज के जहाज पर भारत को रवाना ; जहाज १०-११ दिनों बाद नग्न रहनेवाले लोगों के देश मे (इ-त्सिंग इसे लो-जेन-कुओ कहता है) पहुँचा , वहाँ से पिन-लङ्ग (पिनाङ्ग) के सागर-तट का दर्शन ; लो-जेन-कुओ के सम्बन्ध मे इ-त्सिंग का विवरण—पुरुष बिलकुल नग्न, स्त्रियों के साधारण आच्छादन पत्ते, उपज नारियल, सुपारी, बेंत, बाँस, कन्द, मूल, चावल कम, बेंत और बाँस के उद्योग और विषाक्त वाण चलाने मे निपुण ;

दक्षिण सागर के इ-त्सिंग के कुछ द्वीपों के उल्लेखनीय नाम ; उन द्वीपों के आधुनिक नाम और स्थिति पर ऐतिहासिक विचार।

पन्द्रह दिनो मे वह ताम्रलिप्ति (बंगाल के मेदिनीपुर जिले में तामलुक नामक स्थान) पहुँचा ; ताम्रलिप्ति मे ह्वेन-थ्साङ्ग के शिष्य 'ता चेंगनेंग से भेंट ; इ-त्सिंग ने उससे संस्कृत भाषा सीखी और शब्द-विद्या का अभ्यास किया ; ताम्रलिप्ति मे एक वर्ष रहकर नये गुरु 'ता चेंगनेंग के साथ मध्यभारत की ओर प्रस्थान ; साथ मे एक सौ व्यापारी भी थे, रास्ते मे कठिनाई और कष्ट, सुखकर काँटा ; महाबोधी से आगे बढने में अत्यन्त कष्ट, नालन्दा के रास्ते में बीमार ; साथियों का साथ छूट गया ; पहाड़ी लुटेरों से सामना ; लुटेरों ने निर्वस्त्र कर दिया ; जीवन से निराश ; लुटेरों से किसी तरह जान बची ; डाकुओं-द्वारा गोरे विदेशियों की इष्टदेव को बलि चढ़ाने की जनश्रुति से भय ; भय से शरीर पर कीचड लगा लिया, पत्तों से शरीर ढँक लिया ; आगे के गाँव मे गुरु तेंग से भेंट ; उसकी दशा पर गुरु तेंग को खेद।

उस गाँव से दोनों तीन-चार दिनों बाद नालन्दा पहुँचे ; नालन्दा पहुँचने से इ-त्सिंग को प्रसन्नता ; मूलगन्ध-कुटी जाकर पूजा ; सुने हुए अन्यान्य दर्शनीय स्थानों का निरीक्षण ; गृध्रकूट पर्वत की चढाई ; वस्त्र से जगह देखकर आश्चर्य ; गृध्रकूट से महाबोधि विहार ; बुद्ध की पूजा ; महाबोधि विहार से चलकर वैशाली, कुशीनगर, काशी, कुक्कुटपदगिरि आदि स्थानों का पर्यटन करते हुए फिर नालन्दा वापस ; वैशाली में

उसने बुद्ध के सम-सामयिक विमलकीर्ति का फन-चंग (दश-हस्त वर्ग का घर) ÷ भी देखा, नालन्दा-विश्व-विद्यालय उन्नत अवस्था में ; इ-त्सिंग ने वहाँ १० वर्ष रहकर जयादत्त की लिखी सिद्ध-रचना॰ पाणिनी-सूत्र की टीका, धातुपाठ, अष्टधातु, वृत्ति सूत्र, भर्तृहरि-कृत वाक्यपदीय, बेडावृत्ति, अश्वघोष-कृत सूत्रालंकार-शास्त्र, नागार्जुन-कृत सुहृल्लेख, पातञ्जलि का महाभाष्य, शायण का सर्वदर्शन-संग्रह, भिन्न-भिन्न मतों के चार त्रिपिटक ग्रन्थों, मूलसर्वास्तिवाद निकाय का आमूलांगोपांग, वैद्यक-ग्रन्थों तथा बौद्ध-साहित्य की दूसरी कितनी पुस्तकों का अध्ययन किया ; भारत में उसने अधिक समय घूमने में नही, नालन्दा में पढने मे लगाया, काशी आदि नगरों मे घूमने की बात।

३—इ-त्सिंग के समय का भारत

श्रीभोज से स्वदेश भेजे हुए 'भारत का बौद्ध-धर्म' के सन्देश से भारत का निदर्शन ; जम्बूद्वीप आदि भारत के नाम ; हिन्दू शब्द उत्तर भारत में ही प्रचलित, भारत का क्षेत्रफल।

(क) इ-त्सिंग-काल के पूर्व के भारत के विद्वान् और उनकी रचना—बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मों मे पृथक्-पृथक् उत्थान ; बहुत अंशों मे दोनों धर्मों मे मेल और सम्मिश्रण ; संस्कृत-साहित्य का पुनरुत्थान ; नये-नये दर्शनों की रचना ; पतञ्जलि के महाभाष्य पर बड़ी-बड़ी टीकाएँ ; इनमे भर्तृहरि की टीका प्रशंसनीय ; सायण का सर्व-दर्शन-संग्रह लिखा जा

चुका था ; भर्तृहरि के और भी कई ग्रन्थ, नागार्जुन, देव, अश्वघोष, वसु-बन्धु, असंग, सङ्घभद्र, भवविवेक, जिन धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ प्रभृति विद्वानों की रचनाएँ, विहारों में संग्रहालय और विद्यालय ; देशी और विदेशी लोगों के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध ; संग्रहालय की पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ विदेशी ले गये ।

(ख) उसके समय के कुछ विद्वान्—इन विद्वानों के सम्पर्क से इ-त्सिंग को आनन्द ।

(ग) शिक्षा-पद्धति—परमार्थ सत्य को खोजना, शिक्षा-का उद्देश्य । दो प्रकार का सत्य—संवृत्ति और परमार्थ ; इ-त्सिग-द्वारा संस्कृत-साहित्य और तत्सामयिक भारतीय शिक्षा-पद्धति की प्रशंसा ; काशिका प्रणाली की विशेष प्रशंसा ; शब्द विद्या (व्याकरण) आदि पाँच विद्याओं का विवरण और चीन के शिहकिंग, शुकिग, चि-किङ्ग, चु' न-चि' ऊ और लीकी के समान इनके पाँच ग्रन्थ ।

भारतीय बालकों का पठनारम्भ ; सिद्धिरस्तु अथवा सिद्धि-रचना (सी-त'न चङ्ग) की वर्णमाला की पुस्तक ; सिद्धि-रस्तु का अर्थ ; चीन में इसका अर्थ ; अद्यावधि मिथिला में सिद्धिरस्तु की परिपाटी ; चीन और जापान में सिद्धिरस्तु की ÷ प्रणाली ; सिद्ध के अष्टादश विमान नामक पुस्तक का उल्लेख सिद्ध-पिटक अथवा सिद्ध-कोष ; ओ३म् नमः सर्वज्ञाय सिद्धाम्' से पुस्तक का आरम्भ ;

६ वर्ष की अवस्था में पठनारम्भ ; वर्ण-परिचय छः मास में समाप्त ; वर्ण-परिचय की सबसे पहले शिव ने शिक्षा दी (जनश्रुति), सिद्धिरस्तु के बाद पाणिनि के सूत्र का अभ्यास, आठ-नौ मास मे समाप्त ; पाणिन, अपने समय का बड़ा विद्वान्, दस वर्ष की अवस्था से तीन वर्षों मे खिलग्रन्थ* की समाप्ति, पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे काशिकावृत्ति* एवं वृत्तिसूत्र का पठनारम्भ, काशिकावृत्ति के लेखक—जयानन्द और वामन, इन ग्रन्थों की समाप्ति ५ वर्षों मे, काशिकावृत्ति इ-त्सिग के लिए कठिन, इसे पढने के लिए कन्फ्यूशस-जैसा परिश्रमी चाहिए, काशिकावृत्ति के बाद गद्य-पद्य की रचना की शिक्षा - साथ-साथ हेतुविद्या, अभिधर्म कोष, न्याय-द्वार, तारक-शास्त्र आदि न्याय और तर्क-ग्रन्थों का अध्ययन ; फिर जातक-माला का अध्ययन ; इसके बाद पठन-पाठन-कार्य साथ-साथ ; तदुपरान्त नालन्दा, ताम्रलिप्ति, वल्लभी के विहारों की विद्वान-गोष्ठी मे अत्यन्त गुह्य विषयों पर वाद-विवाद करके ज्ञान-वर्द्धन ; दो-तीन वर्षों तक इतस्ततः परिभ्रमण और फिर राज-दरबार मे अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन ; इस पद्धित पर चलनेवाले प्रकाण्ड विद्वान् होते थे।

कोई-कोई प्रौढ विद्यार्थी पातञ्जलि की चूर्णि, भर्तृहरि की वाक्यपदीय, बेड़ावृत्ति तथा दूसरे दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करते थे ; ब्राह्मणों मे बडे-बड़े विद्वान् ; इ-त्सिग-द्वारा शिक्षा-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा।

(घ) बौद्ध-धर्म का प्रसार—बौद्ध-धर्म और ब्राह्मण-

धर्म शान्त रूप से अपने-अपने मार्ग पर ; देश में धार्मिक अशान्ति नहीं ; दोनों धर्म बहुत अंशों में घुल-मिल गये थे ; इ-त्सिंग का बौद्ध-धर्म पर विशद विवरण ।

बौद्ध-धर्म के दो प्रसिद्ध सिद्धान्त—हीनयान और महा-यान ; इनके अन्तर्गत चार सम्प्रदाय—आर्य महासांघिक-निकाय, आर्य-स्थविर-निकाय, आर्य-सम्मितीय-निकाय और आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय ; इनके अन्तर्गत अष्टादश उप-सम्प्रदाय अथवा उपनिकाय ; इन निकायों के अलग-अलग उपनिकाय और उनके पिटक-ग्रन्थ ; विभिन्न भूभागों में विभिन्न निकायों का प्रसार , आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय की प्रधानता एवं व्यापकता ; इसके चार उपसम्प्रदाय—धर्मगुप्त-निकाय, महीशासक-निकाय, मूलसर्वास्तिवाद-निकाय और काश्यपीय-निकाय ; मगध में इसी का प्रचार ; उत्तर भारत में इसकी प्रधानता ; इस निकाय की प्राचीनता ; मोग्गलीपुत्त तिस्स के कथावत्थु से इसका आरम्भ ; अशोक के समय के स्थविर-निकाय से इसका अधिक मत-भेद नहीं ; तिस्स के तीन प्रधान प्रश्न ÷ परिहाति, अरहा, अरहत्ताति आदि ; सर्वास्तिवाद का आधारभूत ग्रन्थ—कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र वसु-मित्र आदि की महाविभाषा नामक इस पर बृहत् टीका ; वसु-मित्र के भाष्य का वसु-बन्धु-द्वारा खण्डन ; किन्तु इस निकाय की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई ।

(ङ) भारत का समाज और रहन-सहन—राज-नीति स्थिति नाजुक होने पर भी समाज में शान्ति ; समाज

समृद्ध ; धर्म के नाम पर सर्वस्व-त्याग की भावना ; आचरण की पवित्रता श्लाध्य ; प्यास से छटपटाकर प्राण देना स्वीकार ; किन्तु बिना छाने पानी पीना असह्य ; ब्राह्मणधर्मावलम्बियों मे वर्ण-व्यवस्था का प्रचार ; ब्राह्मणों का समादर ; अहिंसा सर्व-मान्य ; असत्य और चोरी महापाप ; समाज मे स्वच्छता और पवित्रता को विशद स्थान ; दैनिक-कार्य—दिनचर्या ; दन्तकाष्ठ; दन्तखोदनी ; दातुन करने की प्रणाली; दातुन करना समाप्त करने के पूर्व खाने का विधान ; भगवान् बुद्ध की विशेष रूप से चेतावनी , दातुन की लकडी ; दातुन से लाभ ; कुल्ला करने की प्रणाली*; भोजन करने का समय ; भोजन की स्वच्छता ; पीढे पर बैठकर खाने की परिपाटी ; वेत्रासन ; खाने के समय दूसरे के शरीर का स्पर्श नहीं ; बिछौने पर खाने का निषेध ; खाने के समय बैठने का ढंग , उच्छिष्ट खाने का निषेध ; भोजन के बाद हाथ-मुँह धोना ; बरतन माँजना ; भारत मे आये हुये मंगोल-यात्री के अपवित्र आचरण की निन्दा ; जल की स्वच्छता पर विशेष ध्यान ; पानी का बरतन; यात्रा में पानी ले जाने का कपडे का विशेष ढंग का थैला ; जल की स्वच्छता की परीक्षा ; परीक्षा के लिए खास तरह का काष्ठ-यन्त्र ; भोजन के बाद विश्राम ; सायंकाल विद्वान्-गोष्ठी में कथावार्ता ।

(च) वस्त्र और भोजन—पुरुष और स्त्रियों के अलग-अलग परिच्छद—लंगोट, अन्तर्वास, संकक्षिका, प्रतिसंकक्षिका आदि वस्त्र ; कायप्रोञ्छन ; एवं मुखप्रोञ्छन ; सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र का उपयोग ; गहने पहनने की प्रथा ।

भोजन दो प्रकार के--पञ्चभोजनीयम् ; पञ्चखादनीयम् ; बौद्ध भिक्षु भी मांस खाते थे।

(छ) आचार-व्यवहार—अवस्था मे बड़ों का सम्मान ; ब्राह्मणों, बौद्ध-भिक्षुओं और विद्वानों में अवस्था का भेद नहीं ; नतमस्तक हो और चरणस्पर्श करके प्रणाम करने की प्रणाली ; सामाजिक अनुशासन ; हँसने, बोलने, चलने का ढंग ; घर में सबसे बड़ा परिवार का स्वामी ; स्त्रियों का सम्मान ; स्त्रियों में पर्दे की प्रथा न थी ; किन्तु उनके लिए विशेष नियम-बन्धन अवश्य थे ; स्त्रियों के लिए अकेले यात्रा करने, अकेले नदी पार करने, पर-पुरुष का शरीर स्पर्श करने आदि का निषेध ; वे पुरुषों के सम्पर्क में नहीं आतीं ; स्त्रियों का विवाह-सम्बन्ध मे न पड़ना, अपराध करने पर छिपाना नहीं, भूमि खोदने का निषेध, आदि-आदि ; सामाजिक जीवन शान्ति-पूर्ण

(ज) अतिथि-सेवा— महान् धर्म। द्वार पर आते ही स-सम्मान बैठाना, हाथ-मुँह धुलाकर घृत, मधु, चीनी, अथवा कोई शर्बत बनाकर पीने को देना। घुल-मिलकर बातें करना, उपदेश सुनना ; श्रद्धा-पूर्वक घर में ले जाकर भोजन कराना ; सब तरह से उसकी सेवा में तत्पर रहना।

(झ) रोग की सामाजिक चिकित्सा—जड़ी-बूटियों का अच्छा ज्ञान ; आवश्यक चिकित्सा घर की स्त्रियाँ स्वयं करती थीं ; भारतीय चिकित्सा-शास्त्र पर इ-त्सिंग का विवरण ; उसके आठ प्रकार ; उपवास-चिकित्सा की महत्ता ; अधःपतित समाज में दूषित वस्तुओं की दवा।

(ञ) मृत्यु—परिवार में शोक, शोक मे विनय और दर्शन भूल जाते थे; मृत शरीर को जलाने की प्रथा; अन्त्येष्टि क्रिया; मृतकों के शव पर मन्दिर और स्तूप बनाने की प्रथा; केश कटाने की प्रथा*; वैदिक क्रिया मे विशेष नियम; श्राद्धपद्धति; बौद्ध सात दिनों का उपवास करते थे; उपवास शुद्धि के अभिप्राय से नहीं, शोक प्रदर्शनार्थ; किन्तु, इस उपवास का विनय मे निषेध; निर्वाण-प्राप्ति मे बाधा।

(ट) समाज का पर्व—आनन्दोत्सव किसी-किसी पर्व में कई दिन; बौद्धों का प्रवारण-दिवस (प्रायश्चित्त-दिवस); यह ग्रीष्म-एकान्त* की समाप्ति के दिन होता था; महोपशथ-प्रक्रिया; नागरमोथा हाथ या पाँव से रौंदने की प्रथा; बौद्धों का दूसरा पर्व—उपवसथ; बौद्ध-भिक्षुओ और विद्वानों को विशेष रूप से निमन्त्रण देकर भोजन कराने की प्रथा; खिलाने का विशेष प्रबन्ध; कैसे और किस समय खिलाया जाता; आँगन-घर की स्वच्छता, आसन, आदि; 'भोजन परोसने की प्रणाली; माता हारिती* के नाम थाली; 'सम्प्रागतम्*; उच्छिष्ट छोड़ने का नियम नहीं; भोजन के बाद—स्थविर के सामने प्रेतलोक को लाभ पहुँचाने की विधि; भोजनोपरान्त दान करने का नियम; विख्यात उपवसथ-पर्व की त्रिपिटक ग्रन्थों में उल्लेख-प्रसेनजित का उपवसथ; उपवसथ करने का इ-त्सिंग का विचार रोक दिया।

(ठ) विहार—केवल भिक्षुओं के रहने का स्थान नहीं, विद्यालय भी; विहार विद्वानों से भरे होते थे; सैकड़ों

विद्यार्थी ; अपनी जमीन , बौद्ध राजाओं की सहायता ; शासन-प्रबन्ध भिक्षु-सभा-द्वारा ; कोठरियाँ संकीर्ण ; आचार्य की कोठरी अच्छी ; अतिथि-सत्कार का सुन्दर प्रबन्ध ; स्वच्छता पर विशेष ध्यान ; प्रधान की आज्ञा बिना कोई पानी भी नहीं छूता , बुद्ध-कीर्त्तन का नियम ; हारिती, काला देवता नागमहामुचिलिन्द ÷ आदि की प्रतिमाएँ और उनकी पूजा ; कुशीनगरान्तर्गत मुकुटबन्धन-विहार* मे महाकाल की प्रतिमा के सामने प्रचुर परिमाण मे नैवेद्य देखकर इ-त्सिंग को आश्चर्य ; इसकी कहानी (रोचक) ; महाबोधि-विहार में मुचिलिन्द की प्रतिमा में विशेष शक्ति ; जल-घडी ; डंके की चोट देने और शंख बजाने का नियम ; नालन्दा-विहार में समय बताने का प्रबन्ध ; कर्मदान* डंका बजाता ; महाबोधि और कुशीनगर की जल-घड़ियों की व्यवस्था भिन्न ।

(ङ) भिक्षु और भिक्षुणी—लोक-हित-साधन में लगा रहना ध्येय , नये भिक्षु-भिक्षुणियों को संघ मे लेने के नियम ; आचार्य के नेतृत्व में परीक्षा ; उपसम्पदा ; उनके बारह नियम अनुष्ठान के अनुक्रम से उनकी कई श्रेणियाँ ÷ ; वस्स ; दस शीलों का पालन ; दस वर्ष से अधिक की अवस्था वाले छात्र भी उपसम्पदा लेते थे ; अनुशासन; समय की पाबन्दी ; वस्त्र विशेष प्रकार के, रेशमी वस्त्र भी पहनते थे ; अपने निमित्त न मारे गये पशु-पक्षी का मांस खाने का विधान ; छः परिष्कार* भिक्षुणियों के पाँच प्रधान वस्त्र – ; स्तन और कुक्षि के निर्बाध रखने का नियम ; युवावस्था में स्तन के उभड़ आने पर कपड़े

बाँधने पड़ते थे , नग्न-वस्त्र भिक्षुणी का लज्जा से किसी पुरुष के सामने न होना पाप ; भिक्षुणी अकेले नहीं रहती ; भिक्षुणियों के रहन-सहन के नियम —; शील, शरण, कर्म और धूतांग ; एकान्तवासी भिक्षु के लिए बाहर का निमन्त्रण स्वीकार करना अपराध ; प्रणाम करने के समय और अवस्था का विधान ; बैठने और सोने का निषीदन ; प्रतिमा की पूजा ; नियमित व्यायाम करने का नियम ; त्रिरत्न की पूजा ; शुभ शकुन का जल —; तीसरे पहर में चैत्य-वन्दना ; भिक्षु-भिक्षुणियों की और बाहर से आई सम्पत्ति संघ की ; चल सम्पत्ति; भिक्षु की अन्त्येष्टि क्रिया ; कुल ।

(ढ) विहार के गुरु और विद्यार्थी—सब तरह से गुरु की सेवा करना विद्यार्थी का धर्म ; अध्यापन-कार्य का महत्त्व ; पढ़ने-पढ़ाने का समय और नियम ; गुरु का नियन्त्रण वात्सल्य-पूर्ण ।

उस समय के भारत के प्रमुख विश्व-विद्यालय—विभिन्न विषयों के केन्द्र विभिन्न विश्व-विद्यालय ; शिक्षा निःशुल्क ; नालन्दा की श्रेष्ठता ।

(ण) तत्कालीन भारत की कला

(त) राजनीतिक अवस्था

(थ) उपज और व्यापारिक अवस्था

४—प्रत्यावर्तन

पाँच लाख बहुमूल्य श्लोकों के चार सौ ग्रन्थों की प्रतिलिपि करके ले गया; आये हुए रास्ते से ही लौटा, ताम्रलिप्ति के रास्ते मे फिर लुटेरों का दल; ताम्रलिप्ति से जहाज-द्वारा यात्रा; दो महीनों में क-च पहुँचा; क-च से भोज; इ-त्सिंग के मन मे धैर्य न था कि वह प्रतिलिपि-ग्रन्थों को सकुशल स्वदेश ले जा सकेगा, भोज से अकस्मात् जल-पोत-द्वारा स्वदेश चला जाना पडा, ६८९ ई० में घर पहुँचा; सगे-सम्बन्धियों को प्रसन्नता; किन्तु इ-त्सिंग को अशान्ति; सारी प्रतिलिपियाँ भोज में पडी थीं; उसके सम्मान में चिह-चिह के बौद्ध मन्दिर में महती सभा इ-त्सिंग का भाषण; जब तक प्रतिलिपियों को न लाऊँ, तब तक शान्ति नहीं; उन प्रतिलिपियों के अनुवाद मे सहायता कर सकने वाले किसी व्यक्ति को भोज तक साथ ले जाने देने का इ-त्सिंग का सभा मे प्रस्ताव; इ-त्सिंग के प्रस्ताव पर विचार; चेंग-कू नामक व्यक्ति का चुनाव; इ-त्सिंग के प्रस्ताव से चेंग-कू को प्रसन्नता; उसके लिए गौरव की बात, चेंग-कू से भेंट; दोनों को प्रसन्नता; भोज-यात्रा के सम्बन्ध में कियेन से परामर्श; कियेन को प्रसन्नता; शुभ घड़ी में विदा; भोज पहुँचकर हर्ष; चेंग के साथ ताओ इङ्ग और दो और भिक्षु भोज गये थे; इ-त्सिंग भारत-भ्रमण का वृत्तान्त 'नन-है-चि-कुएइ-नै-फा-चुअन' लिखने में लगा।

५—स्वदेश को उसका भारत का अमर सदेन्श

'नन-है-चि-कुएइ-ने-फा-चुअन' (दक्षिण-सागर से स्वदेश को लिखा हुआ धर्म का भीतरी वृत्तान्त) ६९२ मे चार खण्डों मे समाप्त ; सूत्रों और धर्म-शास्त्र-ग्रन्थों का दस खण्डों मे अनुवाद ; दो खण्डों को 'ता-तंग सि' 'यू-कू-फा काओ-सेंग-चुअन' (एक दूसरा वृत्तान्त) पूरा किया, इन ग्रन्थों को स्वदेश भेजने की चिन्ता ; इसके लिए उसने ता-त्सिन को चुना ; वह तैयार हो गया ; वह उन ग्रन्थों को लेकर व्यापारी जल-यान से चीन की राजधानी—चंग अन (सि-अन-फू) को रवाना हुआ ।

इ-त्सिंग के सन्देश से चीन मे धार्मिक क्रान्ति, उसके वृत्तान्त का संक्षेप ; धर्म की सच्ची लीक से चीन भ्रष्ट हो गया है ; सृष्टि की उत्पत्ति पर विचार ; प्राणियों की नौ श्रेणियाँ, पाँच भिक्षुओं को भगवान् बुद्ध का शील का उपदेश ; बुद्ध के उपदेश की रक्षा के लिए ५०० और ७०० भिक्षुओं की दो सभाएँ ; सम्राट् बिम्बिसार का स्वप्न ; भारत की बातों से मुग्ध ; आदि-आदि ।

चीन की त्रुटियाँ ; अपने गुरुओं की बाते ।

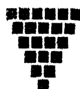
६—अन्त के पृष्ठ

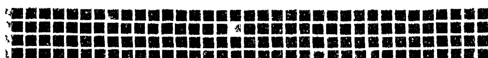
६७५–६९५ तक का २० वर्षों का लम्बा प्रवास समाप्त करके इ-त्सिंग स्वदेश लौटा ; समस्त चीन मे उसकी कीर्ति, चीन की सम्राज्ञी-द्वारा स्वागत, स्वदेश लौटकर

विनय आदि ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य ; अनुवाद मे भारतीय भिक्षुओं की सहायता ; ५६ पुस्तकों का अनुवाद ; मूल सर्वास्तिवाद का अनुवाद पूर्ण ; सम्राट् चुङ्ग-त्सुङ्ग-द्वारा उसकी प्रशंसा ; सन् ७१३ मे मृत्यु ।

❀ इन चिह्नोंवाले वाक्यांशों के फुटनोट दिये गये हैं ।

÷ इन चिह्नोंवाले वाक्यांशों की व्याख्यात्मक बातें विषय के साथ ही आ गई हैं ।





जन्म और छात्र-जीवन

(१)

"'स्वर्ण-विनिर्मित भारत-भूमि का विशाल समतल प्रान्तर अन्न का वृहद् भाण्डार है। प्रकृति जब पतिगृह जाने लगी थी, अपने आँचल का धान, बोझा लगने के कारण, यहीं उँडेल गई थी और तभी से यह शस्य-श्यामला है। उसकी पहाड़ी उपत्यकाओं और खानों में विविध प्रकार के अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। राधा और कृष्ण ने जब आँखमिचौनी खेल खेला था, उनके आभरणों से यह रत्नों के दाने इधर-उधर गिर गये थे।

सागर-तट प्रवाल का बना है। उन प्रवाल-तटवर्ती प्रान्तों में बड़े-बड़े और आकर्षक मोती के दाने विशाल परिमाण में इतस्ततः पड़े हैं। कामायनी और मनु जब उस तट पर कभी स्नान करने गये थे, तब प्रेम-कलह में कामायनी के गले का स्तवक टूट गया था, उसी के वे मोती के दाने हैं। वहाँ के वनो मे सोने और चाँदी के वृक्ष लगे हैं। उनमें हीरे और पन्ने के फल-फूल हैं। उन वनों के नेवले और मृग तपस्या करते-करते वरदान लेकर सोने के बन गये हैं। वहाँ के प्रपातों और सरिताओं से अमृत बहता है। उसे पीकर मनुष्य अमर-जीवन, अमर-यौवन और अमर-सौन्दर्य प्राप्त कर लेता है। उनमें स्नान कर मनुष्य किसी भी रोग से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। वहाँ के पर्वत स्फटिक के बने हैं। उन पर रात-दिन सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त मणियों के दीप जला करते हैं। सीता, वनवास के समय उन्हीं मणियों से सन्ध्या की आरती उतारा करती थी। सभी स्थानों में पारस-प्रस्तर की बहुलता है। भारत, भू-अंगुलीयक में सुन्दरता से लगा हुआ अमूल्य नग है"—इत्यादि बे-सिर-पैर की बातों ने उसे भारत आने के लिए आकृष्ट नहीं किया था। उसके विचार भिन्न थे। उसने बौद्ध-अध्यात्मवाद के वायु-मंडल में जन्म लिया था। उसी में पला था—सयाना हुआ था। भौतिकवाद और भौतिक प्रलोभन उसके जीवन मे समावेश न कर पाया था। शैशव से ही उसने सुना

और पढ़ा था—"भारत भगवान् बुद्ध और अध्यात्मवाद की उत्पत्ति-भूमि है। उसकी अहिंसा के एकान्त गह्वर में उदारता का स्पर्श, पाटीर-प्रलेपन से भी कहीं शीतल है। वहाँ मानवता स्वर्ग-सुख को भी लज्जित करती है। किसी एक स्थान-विशिष्ट मे नहीं, राज-प्रासाद से लेकर पर्ण-कुटीर तक, राज-पथ से लेकर पगडंडी तक, मनुष्य-वास से लेकर घोर जंगलों तक सभी स्थानों मे रत्न-त्रय[1] बिखरे मिलते हैं। मानवता के हृदय-हृदय से—निर्भर और नदियों के कलरव से—मन्द-मन्द समीर-प्रयाग की सिसक से—कोकिल-कल्लोल और द्रुम-लतादि के पत्तों की मर्मर से एक ही आवाज आती है—'बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि।' एक आहत की टीस मे भी यही मधुर स्वर भरा रहता है।"

उसका जन्म सन् ६३५ ई० मे चो-चोऊ[2] में हुआ था। पिता ने बालक का नाम रक्खा 'इ-त्सिग'। वह बचपन से ही बड़ा कुशाग्र-बुद्धि था। स्वभाव अत्यन्त गम्भीर और, शान्त। और प्रवृत्ति आरम्भ से ही आध्यात्मिकता की ओर।

१ बुद्ध, संघ और धर्म को बौद्ध लोग रत्न-त्रय मानते हैं।

२ चो-चोऊ (चीन) को उस समय फन-यङ्ग कहते थे। प्रसिद्ध यात्री मार्कोपोलो ने इसे 'जू-जू' लिखा है। यह 'चि-लि' प्रान्त का एक विभाग है। यह पेकिंग के निकट है।

सम्राट् मिङ्-ति के शासन-काल से ही चीन में बौद्ध-धर्म की लहर उठी थी। उसी के समय में[1] काश्यप भारण (धर्मरक्ष) और मातङ्ग आदि भारतीय श्रमण वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार करने पहुँचे थे। इन्होंने ही बौद्ध-धर्म का बीज यहाँ बोया था। वह लहर इ-त्सिंग के समय तक ऊपर ही उठती रही थी; किन्तु रूप कुछ भ्रष्ट अवश्य हो चला था। स्थान-स्थान पर बौद्ध-धर्म की शिक्षा के लिए सुन्दर-सुन्दर विद्यालय बने थे। उनमें विद्वान् चीनी भिक्षु पढ़ाया करते थे। सबको बौद्ध-धर्म की तह में पहुँचने की लगन-सी लग गई थी। इसी बौद्ध-धर्म की खोज मे कितने ही चीनी भारत आते और बौद्ध-ग्रन्थों का मनन और निदिध्यासन करके लौटते थे। स्वदेश लौटने पर उनका बड़ा सम्मान किया जाता था। भारत से लौटे हुए यात्री बौद्ध-शिरोमणि माने जाते थे। बौद्धों की इस पुण्य-भूमि भारत मे आने का पहला सुयोग फा-हियेन का ही प्राप्त हुआ था[2]। इसने सन् ३९९ से ४१४ तक भारत में रहकर बौद्ध-ग्रन्थों का खूब मनन किया था। इसने अपनी भारत-यात्रा का विशद् वर्णन किया है। इस ग्रन्थ का नाम 'फ़ो-कुये-की' है। उसके पीछे सुन-युन और हुई-सेङ्ग आये। ये दोनों ५१८ में आये थे। इन्होंने भारत का जो वर्णन किया है,

१ सन् ६७ ई० में।

२ इ-त्सिंग की भारत-यात्रा।

वह बहुत थोड़ा है। इनके आने के करीब एक सौ वर्ष बाद तङ्ग-वंश का प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेन-त्साङ्ग भारत आया था। यह ६२९ से ६४५ तक भारत में रहा। इसकी यात्रा की पुस्तक का नाम 'सि-यू-की'; अर्थात्—'पश्चिमी राज्य का इतिहास' है। इसने बौद्ध-ग्रन्थों का खूब अध्ययन किया और भारत से बहुत-से ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ साथ लेता गया, जिसका चीनी भाषा में वह जन्म-भर अनुवाद करता रहा। इसकी यात्रा की पुस्तक से भारत के इतिहास को बड़ी सहायता मिलती है। ह्वेन-त्साङ्ग के बाद ही हमारा यह इ-त्सिग भारत आया था।

चीन की तत्कालीन सामाजिक-परिपाटी के अनुसार इ-त्सिग जब बढ़कर सात वर्ष का हुआ, तब पिता ने उसे बौद्ध-धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए शन-तुङ्ग में आचार्य 'शन-यू' और 'हुई-ह्सी' के पास भेज दिया। इनका विद्या-मन्दिर ताई पर्वत पर था। बालक इ-त्सिग उस पहाड़ी पर आनन्द से खेलता-कूदता, फूल और पत्तों से हिलता-मिलता, चिड़ियों की बोली मे अपनी बोली मिला देता और सबसे बढ़कर आचार्यों के वात्सल्य-परिपूरित नियन्त्रण में रहकर वह चीनी-साहित्य का अध्ययन करने लगा। उसे वहाँ सौष्ठव का संसार मिला था। वह धीरे-धीरे उसके निकट गया—उसे पहचानता गया। उसके विकास के साथ-साथ उसकी

प्रवृत्ति भिक्षु बनने की ओर बढ़ती गई। उसके बाल-हृदय में सोई हुई सद्वांछा शनैः-शनैः जागती गई।

अपनी आयु के बारहवें वर्ष में उसने अपने आचार्य 'शन-यू' को सदैव के लिए खो दिया। इस मृत्यु से किशोर-वयस्क इ-त्सिग के कोमल हृदय को एक गहरी ठेस लगी। संसार में उसे खोखलापन और सूनापन प्रतीत होने लगा। निराश होकर उसने संसार से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य-ग्रन्थों को छोड़, एकमात्र बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। बुद्ध के वचनामृत से उसके हृदय को तृप्ति मिलती थी। हृदय की ठेस, कभी तो जीवन का अभिशाप बन जाती है और कभी आशीर्वचन। उस ठेस की चोट से या तो मनुष्य तिलमिलाकर, नीचे खाई मे गिरकर पतित बन जाता है अथवा दर्द के आवेश में अत्यन्त ऊपर उठ जाता है। यही ठेस महान्-से-महान् क्रान्ति की जननी है—यही मनुष्य-जीवन के सुन्दर और असुन्दर अवसर का कारण है। आचार्य की मृत्यु से इ त्सिग के हृदय पर जो गहरी चोट लगी थी, उससे वह तिलमिलाया नहीं, वह आवेश में आया और ऊपर उठने का—अग्रगामी बनने का एकान्त प्रयत्न करने लगा। अध्ययन उसका एकमात्र जीवन-संगी था। कुछ ही दिनों में वह एक प्रकांड विद्वान् हो निकला।

चौदह वर्ष की उम्र में उसे प्रव्रज्या[1] मिल गई।

[1] सन्यास।

तब तक वह बुद्ध के पवित्र धर्म-शास्त्र में लीन हो गया था। शन-यू के मरने पर हुई-ह्सी ने उसकी बड़ी सहायता की। बड़े संयम से आचार्य हुई-ह्सी ने भगवान् बुद्ध के महत्त्वपूर्ण उपदेशों पर दृढ़ रहने का पाठ उसे पढ़ाया। उस समय प्रचलित बुद्ध के उपदेशों के बेढगे अर्थ हुई-ह्सी ने अपने तर्क-पूर्ण अध्यापन से झूठे ठहराये, फलतः उन झूठे अर्थों की छाया इ-त्सिग पर न पड़ी। छात्र-जीवन के बाद के उसके विचारों और कार्यों से पता चलता है, कि वह कितना गुरु-भक्त और आचार्यों के एक-एक उपदेश पर कितना दृढ़ रहनेवाला था।

सन् ६५४ ई० में, बीस वर्ष की अवस्था होने पर उसे उपसम्पदा[1] मिली। उपसम्पदा मिलने पर वह पाँच वर्षों तक विनय-पुस्तकों[2] का अध्ययन करता रहा। इसका जीवन अत्यन्त कर्मठ था। जो भी काम उसके सामने आता, अपनी सारी शक्ति लगाकर उसे पूरा किये बिना न छोड़ता। पाँच वर्ष के अविरत अध्यवसाय

१ उपसम्पदा प्रव्रज्या की एक श्रेणी-विशेष है। इसका पूरा विवरण 'इ-त्सिग के समय का भारत' शीर्षक अध्याय में दिया गया है।

२ विनय-पुस्तक = विनय-पिटक बौद्ध-शास्त्रों में से एक है। बुद्धदेव ने अपनी शिष्य-मण्डली को भिक्षु-धर्म के जो उपदेश दिये थे वही विनय-पिटक में संगृहीत हैं। इसके संकलन के सम्बन्ध में

करते रहने पर वह विनय-पुस्तकों का अध्ययन समाप्त कर सका। इ-त्सिंग ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वह चीनी प्रथा से सम्बन्ध रखनेवाली विनय-पुस्तकों का पूर्ण-विद्वान् है।

विनय की समाप्ति होने पर वह बौद्ध-ग्रन्थों के बड़े-बड़े सूत्रों का अध्ययन करने लगा। वहाँ शान-तुङ्ग के पहाड़ी विहार में वह तेरह धूतांगों[1] में से कुछ का अनुष्ठान भी करता जाता था।

यह कथा है कि बुद्ध भगवान् तथा सारिपुत्र, मौर्गल्यायन आदि प्रधान-प्रधान शिष्यों के निर्वाण-लाभ करने पर बौद्ध-शास्त्र के लुप्त होने का भय हुआ। इससे महाकश्यप ने अजातशत्रु के राजत्व काल में राजगृह के पास वैभार पर्वत की सप्तपर्णी नाम की गुफा में पाँच सौ स्थविरों को आमन्त्रित करके एक बड़ी सभा की, जिसमें उपालि ने बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'विनय' का प्रकाश किया। इसके पीछे एक बार फिर गड़बड़ उपस्थित होने पर वैशाली के बालिकाराम में सभा हुई, जिसमें 'विनय' का फिर संग्रह हुआ। इस प्रकार कई संकलनों के उपरान्त अशोक के समय में 'विनय' पूर्णरूप से संकलित हुआ।

—हिन्दी-शब्द-सागर

१ - तेरह धूताङ्ग, बौद्ध-भिक्षुओं के दैनिक अनुष्ठान के नियम थे। कसावरा के धर्म-ग्रन्थ में इनकी संख्या बारह ही है। इसका विवरण यों है—(१) पान्सुकूलिकम् (फटे-चीथड़े काषाय वस्त्र का धारण) (२) तेचीवरिकम् (केवल तीन चीवर का धारण)

जब उस पहाड़ी विहार की उसकी पढ़ाई समाप्त

(३) पिण्डपातिकङ्गम् (भिक्षाटन), (४) सपदानचारिकङ्गम् (द्वार-द्वार भिक्षा माँगना), (५) एकासनिकङ्गम् (एक ही बार बैठकर खाना), (६) पत्रपिण्डिकङ्गम् (कटोरा लेकर भिक्षा माँगना), (७) खलुपक्खाभत्तिकङ्गम् (दो बार या पीछे से भोजन परोसन— न लेना), (८) आरण्णकङ्गम् (अरण्य मे रहना), (९) रुक्खमूलिकङ्गम् (वृक्ष की जड़ में निवास करना), (१०) अब्भोवासिकङ्गम् (अरक्षित स्थान मे निवास करना), (११) सोसानिकङ्गम् (श्मशान मे रहना), (१२) यथासन्थतिकङ्गमू (जो भी स्थान मिले वही रह जाना) और नेसज्जिकङ्गम् (सोते हुए भी बैठने की अवस्था मे रहना)।

ये नाम पाली के हैं। संस्कृत में उपर्युक्त (४) और (६) का उल्लेख नहीं है। इसके बदले एक नया नाम है 'नामतिक' इसका अर्थ है—'नमदा पहनना'। इसका पूरा विवरण 'चुल्लवग्ग' में दिया गया है। ऊपर के संस्कृत नाम यों हैं—

पांसुकूलिक, त्रैचीवरिक, पैण्डपातिक, एकासनिक, खलुपश्चत्भक्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक, आभ्यवकाशिक, श्माशानिक, यथासंस्तरिक, नैषधिक और नामतिक।

संस्कृत और पाली मे जो शब्द हैं, वे अनुष्ठान करने वालों के लिए आये हैं ; किन्तु यहाँ जो हिन्दी अर्थ दिये गये हैं, वे अनुष्ठान के द्योतक हैं।

'थेरगाथा' की एक कहानी में एक नट, जो बुद्ध के

हो चुकी, आचार्य हुई-ह्सी ने उसे आज-कल के चङ्ग-

उपदेश से भिक्षु बन गया था, और जिसने अन्त मे अर्हत्व प्राप्त किया था, इस तरह अनुष्ठानों को पूरा करने की बात सोचता मालूम होता है। उसका नाम तालपुट था। अर्हत्व प्राप्त करने के पहले तालपुट सोचता था—"मेरा वह दिन कब आयगा, जब मै पर्वत-कन्दराओ मे अकेला विहार करूँगा और सारे संसार को अनित्य समझूँगा ; फटे-चीथडों से बने काषाय वस्त्र पहन, राग-द्वेष तथा मोह को दूर कर, आसक्ति रहित होकर वन मे स्वच्छन्द विचरूँगा ; जरा, रोग और मृत्यु से पीडित इस शरीर की अनित्यता का ध्यान करता हुआ निर्भय विचरूँगा। भयानक, दुःखद और अनेक प्रकार से घेर लेनेवाली तृष्णा को प्रज्ञा की तीक्ष्ण तलवार से छेद डालूँगा। बुद्धि आदि ऋषियो-द्वारा उपदिष्ट प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण शस्त्र को लेकर दृढ आसन से बैठ षट्-शत्रु का विच्छेद करूँगा। धर्म मे रत, स्थिर चित्त और यथार्थ दर्शियों के समागम मे दिखाई दूँगा। किसी गुफा में बैठकर सदर्थ की प्राप्ति मे लगे हुए मुझे न आलस्य तंग करेगा, न क्षुधा, न प्यास, न वायु, न धूप और न कीडे-मकोडे। एकाग्रचित्त होकर प्रज्ञाचक्षु से चार आर्य-सत्यों को, जिनको बुद्ध ने जाना है—और जो बड़ी कठिनाई से दिखाई देनेवाले हैं—देख सकूँगा। स्थिर-चित्त हो इन अनन्त रूप, शब्द, रस, गन्ध, स्पर्श और मन के विषय को जलते हुए की तरह देखूँगा। किसी के दुर्वचन से मेरा मन मलिन न होगा और किसी की प्रशंसा से भी सुखी न होऊँगा।

तेह-फूह[1] जाकर अभिधर्म-पिटक से सम्बन्ध रखनेवाले असङ्ग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित किया। वह वहाँ गया और कुछ दिनो तक उन ग्रन्थों का मनन करता रहा। वहाँ से वह पश्चिमी राजधानी 'सी-अन-फू' (चङ्ग-अन) पहुँचा, वहाँ भी वह किसी और काम से नहीं; अपनी जन्मजात बौद्ध-धर्म-तत्त्व की ही खोज गया। वहाँ उसे वसुबंधु-कृत अभिधर्म-कोश और धर्मपाल-कृत विद्या-मात्र-सिद्धि के अध्ययन करने का अवसर मिला। सी-अन-फू मे ह्वेन-त्सांग—भारत का प्रसिद्ध चीनी यात्री—उन दिनो चीन-सम्राट् की विशेष आज्ञा से भारत से लाये बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी-भाषा में अनुवाद कर रहा था। सन् ६६४ ई०

काष्ठ तृण, लता आदि जो बाहरी चीजे है तथा भीतरी मन के अनन्त विषयो को एक ही दृष्टि से—अनित्य ; दुःख और अनात्म करके देखूँगा। जगल के उन रास्तो पर, जिन पर बुद्ध आदि चले हैं, जाता रहूँगा और मेरे ऊपर पावस काल की नई वर्षा बरसती होगी तथा वह दिन कब आयेगा जब पर्वत-गुफा मे लेटा हुआ मै जंगल मे मोरो की आवाज सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए उठकर ध्यान लगाऊँगा।

—थेरगाथा का उद्धरण 'धर्मदूत'
(श्रावण, वि० सं १९९६ से)

१ उस समय यह पूर्वी वेई या येह कहलाता था।

मे उसकी मृत्यु भी वहीं हो गई। सम्राट् की ओर से उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया बड़े समारोह से की गई थी। इ-त्सिग उसकी मृत्यु के समय उपस्थित था। वह उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया मे भी सम्मिलित हुआ था।[1]

वह राजधानी में सन् ६७० ई० तक रहा और वहाँ से ही वह चिर-ईप्सित भारत की यात्रा को चला।

उस समय भारतवर्ष बौद्ध-साहित्य का केन्द्र (Home of Bauddha-Literature) था। इससे वह बौद्ध-साहित्य का अन्वेषक बचपन ही से अपने केन्द्र-बिन्दु की ओर खिंचता जाता था। ज्यों-ज्यों वह उस साहित्य की गहराई में उतरता जाता था, त्यों-त्यों उसकी तृषा और भी तृप्ति पाने के लिए मुँह खोलती जाती थी। सी-अन-फू में ह्वेन-थ्सांग के सम्पर्क और बौद्ध-साहित्य के आस्वादन ने उसके भारत जाने के विचार पर और

१ इसका कहीं उल्लेख नहीं किया गया है कि इ-त्सिग उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया में सम्मिलित हुआ था और उसकी मृत्यु उसकी उपस्थिति में ही हुई; किन्तु उसके चरित्र-लेखकों ने उसे ह्वेन-थ्सांग का बड़ा प्रशंसक माना है और दोनों का झुकाव भी एक ही ओर था। ऐसी स्थिति मे वहाँ रहते हुए उसकी मृत्यु और अन्त्येष्टि-क्रिया में इ-त्सिग का उपस्थित न रहना असम्भव प्रतीत होता है।

—लेखक।

पानी चढ़ा दिया। स्वदेश का उसका अध्ययन समाप्त हो रहा था। वह अवसर से कब चूकनेवाला था ? उठा और अपना सम्बल बाँधकर चल पड़ा।

बचपन का उसका संकल्प ६७१ ई० में पूरा हुआ। पाँव बढ़े चले जा रहे थे। मन पहले ही पहुँच चुका था। हृदय का साहस प्रतिपल आलोड़ित होता जाता था और मुख पर प्रसन्नता की झलक और ओठों पर मुसकान अपनी-अपनी दौड़ लगाती जाती थी।



भारत की यात्रा

[२]

इ-त्सिंग सी-अन-फू से सीधा भारत नहीं आया। वह लौटकर चो-चोऊ (जन्म-स्थान) गया। वह गुरु-भक्त था। उसका हृदय, बिना गुरु की आज्ञा के कोई भी काम करने को न मानता था। वह लिखता है—"मैंने अपने पूज्य अध्यापक हुई-हु सी से नतमस्तक होकर इस प्रकार भारत जाने की आज्ञा माँगी—गुरुदेव, मैं भारत की लम्बी यात्रा का संकल्प कर चुका हूँ। यद्यपि परदेश मेरे लिए पूर्णतः अपरिचित है, फिर भी यह प्रवास अत्यन्त लाभ-प्रद प्रतीत होता है। हाँ, आप मेरे हितैषी गुरु हैं। संसार के कोई भी कार्य करने-न-करने का आपको अनुभव है। आप वयोवृद्ध हैं। बिना आपके परामर्श और आज्ञा के मैं अपना संकल्प पूरा नहीं कर सकता।"

हुई-ह् सी उसके संकल्प से बड़ा प्रसन्न हुआ। गुरु (अध्यापक) जब अपने शिष्य की उन्नति देखता है, उसके सुन्दर संकल्प, सुन्दर विचार उसके कानों में पड़ते हैं, जब वह शिष्य के कोई सुन्दर कार्य देखता है, तब उसका हृदय आल्हाद से भर आता है। वह गौरवान्वित होकर फूला नहीं समाता। वह मुग्ध होकर मूक हो जाता और चुपचाप प्रसन्नता-सुधा के घूँट पीकर तृप्त और उत्फुल्ल हो उठता है। हुई-ह् सी मुग्ध होकर प्रसन्नता के आँसू बहाने लगा। उसने कहा—"प्यारे इ-त्सिंग, सुन्दर अवसर दुबारा नहीं आता। तुम अवश्य जाओ। मैं तुम्हारे इस सुन्दर संकल्प से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। यदि तुम खुशी-खुशी वहाँ से लौट आओ और मैं तुम्हारी फैलती प्रकाश-रश्मि को इस जीवन मे देख सकूँ, तो अपने को धन्य समझूँगा। जाओ, पीछे मत देखो। संशय मत करो। तुम तीर्थ-स्थान की यात्रा कर रहे हो। उसमें भी धर्म की समृद्धि के लिए मर मिटना तो मनुष्य का ध्येय ही है। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ—तुम्हे संकल्प में साफल्य मिले!"

चो-चोऊ से चलते समय वह अपने मृत गुरु शन-यू की समाधि पर पूजा करने तथा आज्ञा लेने गया। उस तृण-राजि-आवरित समाधि के चतुर्दिक् एक सूनापन झलक रहा था। इधर-उधर तरह-तरह के वृक्ष बढ़कर बड़े हो गये थे। तुषार-वृष्टि से पेड़ के पत्ते नष्ट हो गये थे। वह

लिखता है—"प्रेतात्मा हम सबों से छिपी रहती है, फिर भी मुझे ऐसा लगा कि मेरे श्रद्धेय अध्यापक समाधि-मन्दिर में विद्यमान हैं। मैंने उनका सम्मान किया, पूजा की, और समाधि का परिवेष्ठन करते हुए अपनी यात्रा का संकल्प उन्हें सुनाया। उनसे आध्यात्मिक साहाय्य माँगा और मुझपर किये गये उनके महान् उपकारों का बदला देने की इच्छा प्रकट की।"

यात्रा के समय इ-त्सिग के साथ उसके अध्ययन-काल के साथी, हौ-चोऊ-निवासी, शास्त्राचार्य 'हुङ्ग-ई', पिङ्ग-यू-निवासी धर्माचार्य 'चू-ई' तथा दो-तीन और भदन्त चले थे। यात्रा का विशेष उद्देश्य गृध्रकूट और भारत का बोधिद्रुम देखने का था; किन्तु उन साथियों ने इ-त्सिग का साथ अन्त तक नहीं दिया। कुछ-ही दूर से वे लौट आये। चू-ई की माता बूढ़ी थी। माता की ममता ने उसे आगे नहीं बढ़ने दिया। वह अपने घर लौट गया। हुङ्ग-ई 'किअङ्ग-निङ्ग' तक आया; किन्तु वहाँ उसे 'ह्यू-येन-चन' नामक मित्र से भेंट हो गई। वह उसे सुखावती[१] की ओर ले गया। उसके दल का एक साथी

१ प्रोफेसर मैक्समूलर ने सुखावती-व्यूह की भूमिका में सुखावती का अर्थ 'आनन्द-धाम' (स्वर्ग) दिया है। इ-त्सिग ने भी अपने यात्रा-विवरण में लिखा है—"मेरे उपाध्याय शान-यू सदैव सुखावती में प्रवेश करने के लिए आवश्यक अनुष्ठान करते रहते थे। इससे मालूम होता है, कि उसके दोनों मित्रों ने

'ह्यू-एन-कुएइ' 'कंग तुङ्ग' तक आया, पर औरों की तरह वह भी वहाँ से लौट गया। उसके साथ 'त्सिन-चोऊ-निवासी' शन-हिङ्ग[1] नामक एक युवा भिक्षु ही बच गया। दोनों भारत की ओर चल पड़े; किन्तु वह भी भारत तक नहीं गया।

शन-हिङ्ग को छोड़ उसके सभी निर्बल-हृदय साथी उसे यात्रा की मझधार मे छोड़कर लौट आये; किन्तु उसने अपना संकल्प न छोड़ा। तीर्थ-यात्रा की प्रबल इच्छा को, अपने अध्यापक के कहे वचन के जप से

सुखावती के अनुष्ठान मे मन लगाया; किन्तु भारत से लौटते समय क–च मे उसे मालूम हुआ था कि क–च के उत्तर (सम्भवतः स्याम) के देश मे उसके ये दोनो मित्र घूम रहे हैं। इससे यह भी मालूम हो सकता है कि स्याम मे अथवा उसके आस-पास सुखावती नाम का कोई स्थान-विशेष हो। कुछ भी हो, मैने इसे एक स्थान-विशेष ही माना है।

१ इ-त्सिग ने स्पष्ट लिखा है—"मेरे और सभी साथियो ने अपना विचार बदल डाला। इससे मुझे 'त्सन-चोऊ' के शन-हिंग नामक एक युवा भिक्षु के साथ भारत की यात्रा करनी पडी।" किन्तु बाद में उसने इस युवा भिक्षु का कही भी उल्लेख नहीं किया है। मुझे उसके भारत जाने में सन्देह मालूम होता है। भारत में वह अकेला मालूम होता है।

—लेखक

जगाता हुआ वह आगे बढ़ता गया। वह कहता है—'दिव्य-भूमि चीन के मेरे पुराने मित्र मुझसे अलग होकर अपने-अपने रास्ते चले गये। कोई भी भारतीय मेरे परिचित नहीं थे। यदि मैं उस समय झिझकता, तो मेरी इच्छा कभी पूरी न होती।"[1]

दुःख में भी धैर्य और साहस लानेवाली 'चङ्-हेङ्'-विरचित चार कविताओं का भाव लेकर उसने दो श्लोक बनाये थे। श्लोकों का भावानुवाद यों है—

"प्राण-प्रिय जन्म-भूमि को छोड़ चला मैं बोधिद्रुम की ओर,
पग-पर-पग दे आगे जाता,
कहीं ठहरकर फिर सुस्ताता;
आज मैं सबसे नाता तोड़, चला हूँ एक लक्ष्य की ओर,
चला मैं बोधिद्रुम की ओर।
मातृ-भूमि का त्याग भार है,
अवहनीय, कर रहा स्वार है;
आज वह तीर्थ—बुद्ध की भूमि—खींचता मुझको अपनी ओर।
चला मैं बोधिद्रुम की ओर।

१ इ-त्सिंग की भारत-यात्रा (तककुसु-लिखित हिन्दी-अनुवाद)।

निबल सैनिकों के आगे भी,
डटे शत्रुदल, उठ भागे भी;
अहो, पर मेरा यह संकल्प, लिये ही जायेगा उस ओर,
चला मैं बोधिद्रुम की ओर।
जीवन के साथी हैं सुख-दुख,
फिर क्यों मोड़ूँ मैं उनसे मुख;
मिटे यह मेरा सब दुख-दर्द, बनूँ मैं बोधिसत्व[1] सब छोड़,
चला मैं बोधिद्रुम की ओर।"

श्लोक का गान करता—हृदय में साहस भरता—वह अपने साथी शान-हिङ्ग के साथ आगे बढ़ता गया।

सन् ६७१ ई०[2] का वस्स[3] इ-त्सिग ने रास्ते में ही व्यतीत किया। वस्स का एकान्तवास समाप्त होते ही

१ बोधिसत्व वह है जो बुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी हो; पर बुद्ध न हो पाया हो। बोधिसत्व की तीन अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें पार करने पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।
—हिन्दी-शब्द-सागर

२ सन् ६७१ ई० हि्सएन-हेङ्काल का दूसरा वर्ष है।

३ 'वस्स' पाली-भाषा मे वर्ष को कहते हैं; किन्तु यहाँ यह कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है। यथार्थ में यह वस्स वर्षा-ऋतु के चार मास—आषाढ शुक्ल द्वादशी से कार्तिक शुक्ल एकादशी

शरत्काल के आरम्भ में 'कोङ्ग-चोऊ-निवासी राजदूत 'फेङ्ग-हि् सयासो-चूअन से उसकी भेंट हो गई। इस राजपूत ने उसका बड़ा सम्मान किया और आर्थिक सहायता भी की। इस समय उसकी यात्रा का सप्तम् मास बीत रहा था। वह फेङ्ग-हि् सयासो-चूअन की सहायता से कङ्ग-तुङ्ग नगर पहुँचा।

कङ्ग-तुङ्ग में राजदूत फेङ्ग-हि् सयासो-चूअन का निमंत्रण स्वीकार कर वह उसके घर 'कोङ्ग-चोऊ गया। उसके और दो छोटे भाई 'हिसयासो-तन' और 'हिसयासो-चेन भी राजदूत थे। उन सब ने हमारे इस यात्री का बड़ा सम्मान किया। श्रीमती निङ्ग और पेन प्रभृति घर-भर के स्त्री-पुरुषों ने उसका बड़ा आदर किया। उन सब ने सेवा, सम्मान और सत्कार-द्वारा उसके हृदय को मोल ले लिया। जाते समय सब ने अलग-अलग विदाई की और इससे उसे भरपूर द्रव्य मिला। वह लिखता है—"उनका प्रेम, माता-पिता के

तक हैं। यह चातुर्मास्य बौद्ध भिक्षुओं के लिए एकान्त-वास का समय है। इस काल में उन्हें यात्रा करने का निषेध है। इस समय उनके लिए मठ से बाहर किसी दूसरी जगह रहने की आज्ञा है। यह बौद्ध-जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण काल समझा जाता है।

—इ-त्सिग की भारत-यात्रा की एक पाद-टिप्पणी से।

प्रेम से कम न था। सब मेरी आवश्यकता पूरी करने के लिए सदैव तत्पर रहते थे। सुन्दर-सुन्दर भोजन कराते थे। मुझ निरवलम्ब के आश्रय बने थे। श्रेष्ठ भूमि (भारत) के दर्शन के साधन-स्वरूप उन सब ने सब तरह मेरी बड़ी सहायता की।" कोङ्ग-चोऊ से चलते समय वे सब बड़े दुखी थे—सब दुःख से अश्रु-मोचन कर रहे थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वह फिर लौटकर स्वदेश नहीं आयगा!

इ-त्सिग कंग-तुंग वापस आया। उस समय चीन, मलयद्वीप, भारत और ईरान के बीच व्यापारी जहाज आते-जाते थे।[1] दक्षिण की यात्रा के लिए उसने एक ईरानी जहाज के स्वामी से बात-चीत की। जहाज के मालिक से बात तै हो गई। यात्रा के ग्यारहवें मास में वह कंग-तुंग छोड़कर समुद्र में कूद पड़ा। चीन की भूमि से अलग होते समय लिनवन के भिक्षु तथा सामान्य उपासकगण और उत्तरी प्रान्त के सभी प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान्, चिरवियोग की आशंका से शोक-विह्वल हो उठे!

जहाज पर चढ़ते ही उसे अपनी यात्रा के देशों को देखने की उत्सुकता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। वह लिखता

१ इन देशों के समुद्री मार्ग का अनुसन्धान सातवीं शताब्दी मे नस्टोरियम पादरी ओलोपूएन ने किया था। यह चीन मे ६१५ ई० में पहुँचा था।

है—"हम सब का जहाज 'यी' और 'चेन'[१] राशियों की ओर मुँह करके चला। उस समय मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं अपनी यात्रा की सफलता के निकट पहुँचता जा रहा हूँ। उत्सुकता बढ़ती जाती थी। कभी मेरा मन सुदूर मृगदाव (काशी) की ओर दौड़ता था, कभी कुक्कुट-पदगिरि (गया के निकट) पर पहुँचने की आशा से मैं प्रसन्न और साथ ही व्यग्र हो उठता था। विस्तृत समुद्र का अपूर्व दृश्य देखकर, आँखें देखते नहीं अघाती थी। समुद्र का भयंकर गर्जन, उसकी पर्वताकार दूह तथा आकाश से खेलती हुई घन-समान खाड़ी की विस्तृत धारा को तिरछी मिलाती हुई बड़ी-बड़ी लहरें देखते ही बनती थीं।"

बीस दिनों तक समुद्र में रहकर उसका जहाज 'भोज' पहुँचा। वह वहाँ उतर गया और छः महीने तक वहीं रहकर वहाँ की भाषा, रहन-सहन, समाज आदि का अध्ययन करता रहा। वहाँ उसने संस्कृत भाषा का भी अध्ययन किया। भोज के राजा ने उसकी बड़ी सहायता

१ 'यी' और 'चेन' नक्षत्रों के नाम हैं। यी और चेन प्रभृति बाईस तारे सर्पाकार चीन से दक्षिण १७०° ५६' ५२" और १८७° ५६' ५२" देशान्तर रेखाओं (Longitudes) के बीच में पड़ते हैं।

की। उसी की सहायता से वह श्रीभोज (मलयु)[1] का निरीक्षण कर सका। श्रीभोज इ-त्सिग को बहुत पसन्द आया। वहाँ वह दो बार गया और कोई सात वर्ष तक रहकर संस्कृत और पाली के मूल बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन और अनुवाद करता रहा। उसके समय में यह देश सम्पत्ति-सम्पन्न था। यह पहले जावा का उपनिवेश था। इसके समय में जावा और मलयु का राज्य मिलकर एक हो गया और इस सम्मिलित देश और राजधानी दोनो का नाम श्रीभोज हो गया। ऐसा परिवर्त्तन इ-त्सिग के यहाँ आने से कुछ ही दिन पूर्व हुआ था।

भोज-नगर भोज-नदी पर बसा था। यह चीन, और ईरान के बीच के देशों का व्यापारिक केन्द्र था। एक ईरानी व्यापारी नियमित रूप से श्रीभोज और चीन के बीच जहाज चलाया करता था। जब वायु अनुकूल रहती थी, तब भोज से कङ्ग-तुङ्ग तक जहाज २० दिनों मे पहुँच जाता था; नहीं तो पूरा एक महीना लग जाता था। श्रीभोज के समृद्धिशाली राजा के पास अपने जहाज थे, जो भारत और श्रीभोज आते-जाते थे। राजा चीन के सम्राट को राजस्व देते थे। भोज के राजा और प्रजा

१ भोज, श्रीभोज (मलयु देश) के सम्बन्ध मे इ-त्सिग की टीका कुछ अस्पष्ट मालूम होती है। फिर भी यह स्थान मलय-द्वीपों मे ही मालूम होता है। —लेखक।

सभी बौद्ध थे। भोज बौद्ध-धर्म की शिक्षा का केन्द्र था और यहाँ एक हजार से अधिक श्रमण रहते थे। थोड़े-से नवीन श्रीभोज-निवासियों को छोड़—जो महायान[1] मतावलम्बी थे—सभी मूल सर्वास्तिवाद निकाय से सम्बन्ध रखनेवाले हीनयान[2] मत के बौद्ध थे। सोना अधिक परिमाण में मिलता था। इ-त्सिंग ने इसे स्वर्ण-द्वीप ही बतलाया है। वह कहता है—"उनके पास सोने के सुन्दर-सुन्दर बर्तन और प्रतिमाएँ थीं। लोग सोने का कमल-पुष्प बनवाकर बुद्ध के पावन-चरणों पर चढ़ाते थे।" यहाँ के निवासी कन-मन नाम का एक लम्बा वस्त्र पहनते थे। भाषा 'कुन-लुन' कहलाती थी। यहाँ के लोग जातीफल, लवङ्ग और कपूर-द्वारा तेल को सुगन्धित कर प्रयोग में लाते थे। इन सुगन्धित पदार्थों के अतिरिक्त यहाँ बेत, सुपारी, नारियल इत्यादि की उपज अधिकता से होती थी। जौ की फसल नहीं होती थी। धान और पीले तथा नीले मटर बहुत उपजते थे। लोग सुगन्धित तेल शरीर में मलते थे। फूल, नारियल, सुपारी और मधु से मदिरा तैयार करके सब लोग पीते थे। ताँबे की मुद्रा नहीं चलती थी। उसके स्थान में चाँदी-सोना काम में लाया जाता था। वह लिखता है कि यहाँ वर्ष के अधिकतर मासों में गर्मी ही पड़ती है। वसन्त और शरद् के मध्य

१, २—बौद्धधर्म के सिद्धान्त-विशेष। आगे इनका विशद-वर्णन आया है।

(मार्च और सितम्बर) मे धूप-घड़ी व्यर्थ हो जाती और मनुष्य के धूप में चलने पर छाया नहीं पड़ती है। सूर्य वर्ष मे दो बार सिर के ऊपर आ जाता है। यहाँ के निवासी जल-स्थल पर लड़ते थे। सैनिक संगठन सुन्दर था। राजा या अपने सम्बन्धियों के मरने पर लोग शोक-चिह्न-स्वरूप सिर के केश मुड़ा लेते थे। स्त्रियो मे सती होने की प्रथा थी। इसे लोग सत्य और बेला कहते थे।[1]

दो महीने श्रीभोज में रहने के बाद वह 'क-च'[2] नामक स्थान मे पहुँचा। इन स्थानों के निरीक्षण मे उसे पूरा एक साल लग गया। बारहवे महीने मे उसने फिर अपनी यात्रा आरम्भ की और भोज के राजा के जहाज पर पूर्व-भारत की ओर चल पड़ा। उसका जहाज क-च से सीधे उत्तर की ओर चला। दस-ग्यारह दिनों मे वह नग्न लोगों के देश में पहुँचा। इसे वह 'लो-जेन-कुओ' कहता है। किसी की देह पर वस्त्र नहीं, सभी नग्न थे।

१ यह वर्णन इ-त्सिंग के ग्रन्थ में नहीं आया है। किन्तु अन्य प्रसिद्ध इतिहासकारो ने इसका भी उल्लेख किया है। —लेखक

२ 'क-च' अवश्य नग्न लोगों के देश के दक्षिण में, एचिन सागर-तट पर किसी जगह का नाम होगा। यह संस्कृत का 'कच्छ' हो सकता है।

—'इ-त्सिंग की भारत-यात्रा'।

स्त्री-पुरुष सब साथ-साथ काम करते-रहते, सोते-बैठते। हम सब की तरह वे नग्न रहने में लजाते नहीं थे। उसके पूरब 'पिन-लंग' (पि-नांग) का विस्तृत समुद्र-तट दिखाई पड़ता था। वहाँ केवल हरा-भरा नारियल और सुपारी का वन दीख पड़ता था।

जब वहाँ के रहनेवालों ने उसके जहाज को देखा, तो उनको जहाज देखने की बड़ी उत्सुकता हुई। सब अपनी छोटी-छोटी नौका पर चढ़कर उसे देखने आये। उनकी संख्या सौ थी। वे सब अपने साथ नारियल, केला और बाँस तथा बेत की बनी चीजें लाये थे और उन्हें देकर बदले में लोहा लेना पसन्द करते थे। दो-तीन अंगुल-भर लोहे के टुकड़े के लिए वे आठ-दस नारियल देते थे। उनके विषय में इ-त्सिंग लिखता है—"पुरुष बिलकुल नग्न रहते है। स्त्रियाँ अपने शरीर का आच्छादन कुछ पत्तों से कर लेती हैं। यदि मनोरंजन के लिए कोई व्यापारी उन्हें वस्त्र देते हैं, तो वे हाथ हिलाकर नहीं कर देती हैं। इस द्वीप में लोहा, सोना और चाँदी अप्राप्य हैं। यहाँ के निवासी नारियल तथा और दूसरे कन्द-मूल आदि खाकर जीवन-यापन करते हैं। चावल अधिक नहीं होता। वे सब गोरे और मध्यम कद के हैं। बेत और बाँस के बक्स इत्यादि बनाने में ऐसे निपुण होते हैं कि इस कला में कोई देश उनकी बराबरी नहीं कर सकता। यदि किसी विदेशी व्यापारी से वस्तु-परिवर्त्तन करना

चाहें और व्यापारी ऐसा नहीं करें, तो वे उनके विषाक्त बाणों के शिकार बनकर शीघ्र प्राणों से हाथ धो बैठते हैं[१] ।"

इ-त्सिंग के वर्णन में दक्षिण-सागर के और-और द्वीप भी आये हैं। इनमें 'पो-लू-शि', 'मो-हो-हि सन (महासिन)', 'हो-लिग (पोलिग या कलिग)', 'तान-तान' (नतूना), 'पेन-पेन (पेम-पेन)', 'पो-लि (बलि)', 'कु-लुन (K'u lun)', 'पूलो कण्डोर (Pulo-Condore)', 'अ-शन' या 'ओ-शन', 'मो-चिया-मन (मद्यमन)', 'फो-शिद-यूसो (भोजपुर)', आदि उल्लेखनीय हैं।

'पो-लू-शि' को कोई-कोई अण्डमान-द्वीप-समूह मानते हैं। इ-त्सिग कहता है कि कोरिया-प्रायद्वीप से दो श्रमण जहाज-द्वारा श्रीभोज (मलयु) के पश्चिम 'पो-लू-शि' आये और यहाँ बीमार होकर मर गये।

१ इस नग्नदेश के विवरण से पता चलता है कि यह आज का निकोबार द्वीप-समूह अथवा उसका कोई टापू हो। नवीं शताब्दी के अरब नाविकों ने लञ्ज बालूस या लङ्क बालूस कहकर जो वर्णन किया है, वह इ-त्सिग के इस वर्णन से बहुत कुछ मिलता है। रशीदुद्दीन इसे नाकवारम कहता है। यूल महाशय के मत से ह्वेन-थ्सांग का नालिकेर द्वीप भी यही है।

—'इ-त्सिंग की भारत-यात्रा'

अध्यापक चवानिस (Prof. Chavannes) ने श्रीभोज के 'त-अङ्ग' राज-वंश के इतिहास मे 'लङ्ग-पो-लोऊ-से' नामक एक देश का उल्लेख किया है। यह इ-त्सिंग के पो-लू-शि और मार्कोपोलो के फलक से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

मो-हो-हि सन (महासिन) शामियों (inhabitants of Syria) के 'मासीन' से मिलता है। युल का कथन है कि एलियास ने १५० ई० में तामस, तमल्लाहा, याकूब और देह ना नाम के पादरियों को भारत तथा दावाग (जावा) सीन (चीन) और मासीन के बीच के द्वीपों का परिभ्रमण करने के लिए भेजा[1]।

हो-लिंग (कलिंग) को तककुसु भारत के कारोमंडल-तट पर स्थित वर्त्तमान उड़ीसा होने का अनुमान करते हैं; किन्तु 'त-अङ्ग' का नया इतिहास[2] बतलाता है कि कलिंग जावा को भी कहते हैं—कलिंग सुमात्रा के पूर्व में है। हो सकता है, यह जावा ही हो अथवा उसके किसी भाग का नाम हो।

१ Assemani, part I, page 592; Yule, Cathy, page c 111.

२ त-अग का नया इतिहास खंड २२२, भाग २ और खंड १६७।

ब्रशनीडर महोदय (Mr. Bretschneider) के कथन से नतूना ही इ-त्सिग का 'तान-तान' है। इतिहासकार सुई ने दक्षिण-स्याम में डोन-डिन को तान-तान माना है; लेकिन इ-त्सिंग जानता था कि स्याम द्वीप नहीं; प्रायद्वीप है। फिर वह तान-तान को द्वीप क्यों लिखता?

पेन-पेन बोर्नियो के दक्षिणी समुद्र-तट पर अवस्थित वर्त्तमान पेम्बुअन विदित होता है। इ-त्सिग भी कहता है कि पेन-पेन कलिंग (जावा) के उत्तर में है।

पो-लि वर्त्तमान बालिद्वीप को ही कहते हैं। श्री आर० फ्रेड्रिक (Friedrich) महोदय ने अपनी (Essays on Indo-China) नामक पुस्तक में इसी तरह का उल्लेख किया है।

कु-लुन पूलो कण्डोर का देशी नाम 'कोन-कोन' है। नवीं शताब्दी के अरबी पर्यटक इसे सुन्दर फूलात कहते हैं। चीनी लेखकों ने इसे गुलामों का देश माना है। इ-त्सिग के समय के यहाँ के निवासी हबशी मालूम होते है। वह कहता है कि यहाँ के लोग काले रंग के हैं और इनके केश ऊनी होते हैं। टीकाकार काश्यप ने इन्हें अशिष्ट, चोर, लुटेरा, अशुद्ध-भाषी, निपुण पनडुब्बा, नरमांस-भक्षक बतलाया है; किन्तु ऐसी बात इ-त्सिग के आने से बहुत पूर्व की हो सकती है। उसके वर्णन से मालूम होता है कि उस समय ये कु-लुन-निवासी बड़ी उन्नत अवस्था में थे। इन्होंने बुद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया

था। इनके द्वीप में एक सुन्दर विहार था—उसमें वहाँ के राजा ने एक अनोखी जल-घड़ी दी थी। यहाँ के लोग संस्कृत-सूत्रों के बड़े प्रशंसक थे। यहाँ दो प्रकार की लौगें उपजती थीं।

यह कोई आश्चर्य करने की बात नहीं है कि पहले से असभ्य द्वीप कुन-लुन के नाम पर सुमात्रा (या श्रीभोज) की भाषा कुन-लुन क्यों थी। उस समय तक यह नाम सारे दक्षिण-सागर के लिए व्यापक था। यह अवश्य ही मलय-भाषा थी। कुन-लुन द्वीप से इस भाषा का कोई सम्बन्ध न था।

फो-शिह-पू-लो (भोजपुर) श्रीभोज (आधुनिक पेलम्बङ्ग) की राजधानी भोज नहीं। श्री सी० बौमगार्टन अध्यापक मैक्समूलर को लिखते हैं कि सुरबज (Surabaja) जावा का दूसरा नगर है। वहाँ अभी तक एक स्थान है, जिसे बोज नगर और सारे प्रदेश को बोज कहते हैं। बहुत सम्भव है कि इ-त्सिंग का भोजपुर यही बोजनगर है।

अ-शन या ओ-शन आधुनिक एजङ्ग (Ajang) और मो-चिया-मन (मधमन) मदुरा मालूम होता है।

इ-त्सिंग के वर्णन मे इण्डो-चाइना (indo-China) के कुछ स्थानों का उल्लेख भी किया गया है। इसमें श्रीक्षत्र, लङ्कसु (काम लङ्का), द्वारवती, पोह-नन, चम्प (चम्पा), पी-किङ्ग (स्याम में) और कन-चोऊ

(सम्भवतः तोङ्ग-किग के निकट) के नाम आये हैं। यहाँ इ-त्सिग और ह्वेन-त्सांग का वर्णन एक ही है। श्रीक्षत्र या थरेखेत्तर का अवशिष्ट अंश, आज भी प्रोम-(स्याम) नगर के कुछ दूर पूर्व मे मिलता है। इसे प्रोम वंश के राजा महासम्भव ने भगवान् बुद्ध के साठवें वर्ष मे बसाया था[१]। इ-त्सिग ने लङ्कसु को श्रीक्षत्र के दक्षिण-पूर्व और द्वारवती लंकसु के पूर्व मे बतलाया है। द्वारवती (ह्वेन-त्सांग के मत से भी) के पूर्व चम्प (चम्पा या महाचम्पा), चम्प के उत्तर पी-किग और यहाँ से उत्तर और कङ्ग-चोऊ (टोंग-किग के निकट) का होना लिखा है।

यहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर उसने यात्रा की। लगभग आधे महीने में उसका जहाज ताम्रलिप्ति (हुगली के मुहाने पर बसा हुआ एक नगर) पहुँचा। इसे आजकल 'ताम्रलुक' कहते हैं। यह बंगाल के मेदिनीपुर जिले में है। ताम्रलिप्ति के विषय मे उसका कहना है कि वह पूर्वी भारत की दक्षिण-सीमा है और महाबोधि तथा नालन्दा यहाँ से आठ योजन से भी अधिक दूरी पर है। उस समय यहाँ एक बहुत ही सुन्दर विहार था। बहुत-से श्रमण और विद्यार्थी यहाँ रहकर अध्ययन करते थे।

वह ६७३ ई० मे—अर्थात् हिसएन-हेङ्ग-काल के चतुर्थ वर्ष के दूसरे महीने के आठवें दिन—वहाँ पहुँचा

१ ब्राह्मी पंचांग।

था। वहाँ उसे ह्वेन-त्सांग के शिष्य 'ता-चेङ्ग-तेङ्ग' से भेंट हुई। वह द्वारवती (पश्चिम-स्याम) सिंहल और दक्षिण-भारत का पर्यटन करता हुआ ताम्रलिप्ति आया था। 'तेङ्ग' ताम्रलिप्ति में बारह वर्ष तक रहा था। वह संस्कृत-साहित्य का बड़ा विद्वान् था। इ-त्सिग ने उससे संस्कृत-भाषा सीखी और शब्द-विद्या का भी अभ्यास किया। लगभग एक वर्ष ताम्रलिप्ति में व्यतीत कर उसने अपने नये गुरु 'ता-चेङ्ग-तेङ्ग' के साथ मध्य-भारत के लिए प्रयाण किया। साथ-साथ एक सौ व्यापारी भी मध्य-भारत आये। उसे पहाड़ी और जंगलों के बड़े-बड़े बीहड़ रास्ते बड़े कष्ट से पार करने पड़े; लेकिन वह बौद्ध-तीर्थों को देखने की उत्सुकता में किसी तरह के कष्ट का अनुभव न करता—थककर भी चलता रहता, खान-पान और स्वास्थ्य का भी ध्यान न रखता।

रास्ता चलते-चलते वह सूखकर काँटा हो गया था। शरीर में केवल अस्थि और चर्म शेष रह गये थे। ताम्रलिप्ति से वह महाबोधि-विहार तक तो उसी उत्साह, उसी उत्सुकता से आया; किन्तु वहाँ से आगे पैर बढ़ाना इच्छा रहते हुए भी उसे कठिन प्रतीत होने लगा। महाबोधि से आठ-दस दिन तक तो वह किसी-न किसी तरह आगे बढ़ता गया; पर इस आठ-दस दिन के रास्ते में पर्वत, दलदल, भयानक घाटी और बीहड़ जंगल मिले, जिससे वह और निर्जीव हो गया। वह बीमार

होकर आगे जाने से रुक गया। दैव की गति! उसके सभी साथी आगे निकल गये। वह अकेला पड़ गया। आगे चलने की इच्छा से वह छटपटाने लगा; पर कर ही क्या सकता था। मृतप्राय वृद्ध की तरह उसकी चलने-फिरने की लालसा उसे रुलाने लगी।

एक दिन कुछ स्वस्थ होने पर वह धीरे-धीरे नालन्दा की ओर जाने लगा। पगडंडी अत्यन्त बीहड़ और भयंकर थी। वह चलता भी था और भय से कातर भी होता जाता था। सन्ध्या-समय—जब कि सूर्य अस्ताचल की चूड़ा पर पहुँचना ही चाहता था—कुछ पहाड़ी लुटेरे धनुष पर कमान चढ़ाये, कोलाहल करते, उसके सामने पहुँचे और बहुत अपमानित करके उसके शरीर के वस्त्र-सहित सब-कुछ छीन लिया। वह बड़ी विपत्ति में पड़ा। अपने जीवन से निराश हो चला। वह लिखता है—"मुझे मालूम होता था, मेरे जीवन की यह अन्तिम घड़ी है। तीर्थ-स्थानों तक पहुँचने की आशा जाती रही।" उसने यह जन-श्रुति सुनी थी कि किसी सुन्दर गौर-वर्ण विदेशी को पाकर ये अपने इष्ट-देव को उन्हें बलि चढ़ाते हैं। इससे वह और भी भय-कातर हो रहा था। उन लुटेरों ने उसकी चीज़ें छीन लीं और चम्पत हो गये। उसकी जान बच गई। वह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। जन-श्रुति की याद से भयभीत होकर उसने अपनी देह पर कीचड़ लगा लिया। शरीर को पत्तों से ढक

लिया। उसके टिकने का स्थान, जहाँ उसके गुरु 'ता-चेङ्ग तेङ्ग' और नालन्दा के कोई बीस भिक्षु उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे, अभी दूर था। कुछ रात बीते जब वह उस गाँव मे पहुँचा, और गुरु तेङ्ग से भेंट हुई, तब वे उसकी दशा पर अत्यन्त खिन्न हो उठे। उन्होंने तुरन्त उसे स्नान कराया और अपने वस्त्र उसे पहनने को दिये।

रात-भर वहाँ ठहरकर वे सब नालन्दा की ओर (उत्तर की ओर) चल पड़े।

तीन-चार दिनों की यात्रा समाप्त करने के बाद वे सब नालन्दा पहुँचे। एक दिन जो इ-त्सिग अपने जीवन से निराश हो चला था, वही नालन्दा मे पहुँचकर जी उठा! हर्ष से उसकी सारी बीमारी—उसकी सारी श्रान्ति दूर हो गई। वहाँ उसने मूलगन्ध-कुटी मे जाकर पूजा की; और अन्य दर्शनीय स्थानों का भी बड़े चाव से निरीक्षण किया। नालन्दा से चलकर वह गृध्रकूट-पर्वत पर चढ़ा। वहाँ वस्त्र से लपेटी हुई एक जगह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह, उसके गुरु तथा नालन्दा-विहार के वे बीसो भिक्षु गृध्रकूट से चलकर महाबोधि-विहार में पहुँचे। यह विहार बोधि-वृक्ष से सटा हुआ सिंहल-द्वीप के एक राजा का बनवाया हुआ था। वहाँ उसने भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा बड़े प्रेम और श्रद्धा से की। स्वदेश से वह शन-तुङ्ग आदि स्थानों के भिक्षुओं और उपासकों से सब तरह के मोटे और महीन

कौषेय वस्त्र लाया था। 'यू' के विनय-गुरु 'ह्यू-एन' ने उसके हाथ सहस्रों छोटे-छोटे छत्र भेजे थे[1]। इन सब को लेकर उसने उनके नाम से प्रतिमा पर बड़ी श्रद्धा से चढ़ाया। त्साओ के ध्यान-गुरु 'अन-लाओ' के आग्रह से उसने उसके नाम पर बुद्ध की पूजा की। पूजा समाप्त होने पर वह उठा और आह्लादित होकर बड़े प्रेम से मूर्ति के सामने साष्टाङ्ग प्रणाम किया और साथ ही अपनी मनोकामना भी प्रकट कर दी—"मैं सच्ची धार्मिक विधि पर चलूँ, और मुझे निर्वाण-प्रद ज्ञान प्राप्त हो।" संसार के समस्त चैतन्य प्राणियों के मंगल के लिए भी उसने प्रार्थना की

महाबोधि-विहार से चलकर वैशाली, कुशीनगर, काशी, कुक्कुटपद, गिरि आदि स्थानों का पर्यटन करता हुआ वह नालन्दा लौट आया। वैशाली में उसने वह घर भी देखा, जिसे चीनी 'फन-चङ्ग' कहते हैं। चीनी भाषा में फन-चङ्ग दस हस्त-वर्ग को कहते हैं। इस घर की एक रोचक दन्त-कथा है। यह बुद्ध के समसामयिक विमलकीर्ति का घर था। शिलादित्य के पास आनेवाले चीनी दूत-समूस के प्रधान 'वन-ह्यू-एन-त्से ने इसे नापा

१ ये वस्तुएँ लुटेरे नहीं ले सके थे। वह कमजोर था, इसलिए बोझा लादकर न चल सकने के कारण उसने वह सामान अपने साथियों को आगे ले चलने के लिए दे दिया था।

था। यह दस हस्त-वर्ग था। पीछे इसका नाम ही फन-चङ्ग हो गया। अब तो सभी विहार को फन-चङ्ग कहते हैं।

नालन्दा उस समय भी अपने विश्व-विद्यालय के कारण उन्नत-मस्तक बना हुआ था। राजगृह-उपत्या के पूर्वी किनारे पर उस बौद्ध-विश्व-विद्यालय का भव्य प्रासाद बना था। इ-त्सिंग वहाँ रहकर लगभग १० वर्ष तक पाली और संस्कृत-साहित्य-ग्रन्थों का अध्ययन करता रहा। वहाँ उसने जयादित्य की लिखी सिद्ध रचना (सी-तन-चङ्ग)[१] पाणिनी-सूत्र की टीका, धातुपाठ, अष्टधातु, वृत्ति-सूत्र आदि व्याकरण की पुस्तकें; भतृहरि-कृत वाक्यपदीय, बेड़ा-वृत्ति ; अश्वघोष-कृत सूत्रालङ्कार-शास्त्र; नागार्जुन का सुहल्लेख; पतञ्जलि का महाभाष्य ; शायण का सर्वदर्शन-संग्रह (किसी-किसी का कहना है कि सर्वदर्शन-संग्रह के रचयिता शायण के बड़े भाई माधवाचार्य थे) तथा भिन्न-भिन्न चार मतों के त्रिपिटकों का अध्ययन किया था। इनमे वह मूल सर्वास्तिवाद-निकाय का अनुयायी था और इसका सांगोपांग अध्ययन उसने किया था। 'इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उसने और भी कितने ही बौद्ध-ग्रन्थों का अवलोकन किया था। भारत के वैद्यक-ग्रन्थों का भी उसने अध्ययन किया था।

१ इसके कुछ भाग वामन की टीका समझे जाते हैं।
—अध्यापक मैक्समूलर।

इ-त्सिंग बौद्ध-धर्म के सिद्धान्त और विशेषतः अपने मूल-सर्वास्तिवादनिकाय का सर्वाङ्ग ज्ञान प्राप्त करने भारत आया था। यही कारण है कि उसने अपना अधिक समय भारत-पर्यटन मे नहीं; बल्कि नालन्दा-विश्वविद्यालय के अन्दर अध्ययन मे बिताया।

भारत में जितने स्थान उसने देखे थे, उनमें काशी, श्रावस्ती (उत्तर कौशल); कान्यकुब्ज, कपिलवस्तु, बुद्ध-गया, नालन्दा, राजगृह, ताम्रलिप्ति,[1] लाट, सिन्धु, वल्लभी, उद्यान, खरचर, कुस्तन, नेपाल प्रभृति मुख्य हैं।



१ ताम्रलिप्ति हुगली के मुहाने पर एक व्यापारिक प्रसिद्ध नगर था। यहाँ बौद्धों का बहुत ही सुन्दर विहार था। उसका ग्रन्थागार बड़ा ही भव्य था। विदेशी उसकी बहुत-सी प्रति-लिपियाँ अपने देश ले गये हैं।

इ-त्सिंग के समय का भारत

[३]

इ-त्सिंग के श्रीभोज (सुमात्रा) से भेजे हुए भारत के बौद्ध-धर्म के सन्देश तथा और भी दूसरे-दूसरे उल्लेखों से उस उसय के भारत का सुन्दर निदर्शन हो जाता है।

इ-त्सिंग ने भारत का सम्बोधन जम्बूद्वीप (चन-यू-चोऊ), पश्चिम (सी-फङ्ग), पाँच देश (बू-तियेन = Wuat'ien), ब्रह्मराष्ट्र (पोलो-मेन-कुओ), आर्यदेश (आ-ली-या' त-इ-शा) आदि नामों से किया है। वह कहता है कि केवल उत्तर-भारत के लोग ही अपने को हिन्दू (हिसन-तू) कहा करते हैं। दूसरा कोई भी अपने को हिन्दू नहीं कहता—जानता भी नहीं।

भारत के क्षेत्रफल के विषय में इ-त्सिंग कहता है—"भारत की सीमा लम्बी-चौड़ी बहुत दूर तक चली

गई है। स्थूल रूप से कहें, तो मध्य-भारत से प्रत्येक दिशा में, सीमा तक की दूरी कोई चार सौ योजन है। इस माप में सीमा-प्रान्त छोड़ दिया गया है।"

१—इत्सिंग-काल के पूर्व के भारत के विद्वान् और उनकी रचनाएँ

इ-त्सिंग के समय में बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म—दोनों—अलग-अलग अपने उत्थान और अपनी खोज में लगे थे। यह प्राचीन संस्कृत-साहित्य के पुनरुत्थान का युग था। बौद्ध और ब्राह्मण दोनो धर्मों मे परस्पर कुछ-कुछ मिश्रण हो गया था। उनके नये-नये दर्शन बन रहे थे। महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य पर बड़ी-बड़ी टीकाएँ हो चुकी थीं। इस महाभाष्य पर भर्तृहरि[1] की टीका प्रशंसनीय थी। सायणाचार्य का सर्वदर्शन-संग्रह लिखा जा चुका था। भर्तृहरि की और भी वाक्यपदीय, बेड़ा-वृत्ति आदि शिक्षोपयोगी रचना चल रही थी। नागार्जुन, देव, अश्वघोष, वसुबन्धु, असंग, सङ्घभद्र, भवविवेक, जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र,

१ भर्तृहरि को इ-त्सिग ने विद्यामात्र-सम्प्रदाय का बौद्ध बतलाया है ; किन्तु उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ वाक्यपदीय से वह वेद-विश्वासी और आस्तिक मालूम होता है।

—भगवद्दत्त

सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ, जिनप्रभ प्रभृति देश की विभूति अपने अमर-सन्देश सुन्दर-सुन्दर ग्रन्थों में भारत को दे गये थे। इनका मनन और अनुशीलन कर भारतीय और विदेशी तृप्त होते थे। इन ग्रन्थों के बड़े-बड़े संग्रहालय विद्यालयों और विहारों में थे, जहाँ स्वाध्याय करने और निःशुल्क अध्ययन करने का बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध था। ताम्रलिप्ति और महाबोधि-विहार इन संग्रहालयों से जगमगा रहा था। नालन्दा-विश्व-विद्यालय के संग्रहालय का क्या कहना! इन्हीं संग्रहालयों में स्वाध्याय करने से विदेशी-यात्री विद्वान् बने थे और इन पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ अपने देश ले गये थे।

२—उसके समय के कुछ विद्वान्

इ-त्सिंग के समय में चन्द्रदास (चन्द्र), ज्ञानचन्द्र, रत्नसिंह, दिवाकर मित्र, तथागतगर्भ, शाक्यकीर्ति आदि महान् आचार्य जीवित थे। इनकी यशोपताका सर्वत्र विद्वान्-गोष्ठी की चूड़ा पर गर्व से फहराती रहती थी।

चन्द्रदास बंगाल (पूर्व-भारत) का सब से बड़ा विद्वान् था। इसके विषय में इ-त्सिंग लिखता है—"जब मैं उस देश में गया, बोधिसत्व के समान वह महामति जीवित था। एक दिन एक मनुष्य ने उससे पूछा—"प्रलोभन

और विष में अधिक हानिकारक कौन है ?" उसने तुरन्त उत्तर दिया—"यथार्थतः इन दोनों में बड़ा भेद है। विष केवल उसी समय हानिकारक होता है, जिस समय वह खाया जाता है ; किन्तु प्रलोभन के चिन्तन-मात्र से बुद्धि मारी जाती है।"

ज्ञानचन्द्र मगध में नालन्दा से कुछ दूरी पर तिलढ-विहार[1] मे आचार्य था। यह धर्म-गुरु माना जाता था। रत्नसिंह नालन्दा-विहार का विख्यात आचार्य था। तथागतगर्भ सुदूर दक्षिण प्रान्त का विद्वान् था। शाक्य-कीर्ति श्रीभोज मे रहता था ; यह भारत का विद्यार्थी था। इ-त्सिग लिखता है—"इन विद्वानों के सम्पर्क और वार्तालाप मे मुझे अभूतपूर्व आनन्द आता था। मैं इनके अमूल्य उपदेश ग्रहण करता था। मुझे इस बात का बड़ा आनन्द है कि मुझे इन विभूतियों के सम्पर्क में रहकर कुछ सीखने का अवसर मिला।"

३—शिक्षा-पद्धति

शिक्षा का ध्येय परमार्थ-सत्य को खोजना और जानना था। इ-त्सिग इस परमार्थ-सत्य की टीका करते हुए लिखता है—"सत्य दो प्रकार के हैं—संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य। संवृत्ति-सत्य, छिपी हुई सचाई है।

१ तिलढ-विहार ह्वेन-त्सांग का तिलढक है। यह नालन्दा के पश्चिम मे है। आजकल इसे तिल्लार कहते हैं।

इसकी व्याख्या करके शिक्षार्थियों को समझाया जा सकता है ; किन्तु परमार्थ-सत्य शब्द या वाणी से परे है। वह स्वयं अनुभव किया जा सकता है।

इ-त्सिंग संस्कृत-साहित्य के व्याकरण और भारत की तत्सामयिक शिक्षा-पद्धति की बड़ी प्रशंसा करता है। वह लिखता है कि पुराने टीकाकारों ने हमें संस्कृत-भाषा के बहुत कम नियम बताये हैं। उनसे हम संस्कृत के पूर्ण विद्वान् नहीं हो सकते ; किन्तु आजकल की प्रचलित काशिका प्रणाली यथेष्ट और सुन्दर है। इसके पढ़ने से संस्कृत-साहित्य के कठिन-से-कठिन ग्रन्थों का सरलता से अनुवाद किया जा सकता है। व्याकरण की व्याख्या करते हुए वह लिखता है—"व्याकरण[1] को संस्कृत में शब्द-विद्या कहते हैं। यह पाँच विद्याओं—शब्द-विद्या (व्याकरण और अभिधान-रचना), शिल्पस्थान-विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतु-विद्या और अध्यात्म-विद्या—में से एक है। इसके दिव्य-भूमि—चीन—के पाँच ग्रन्थों—शिह-किग, शु-किंग, चि-किग, चु'न-चि'ऊ और ली-की—के समान कोई पाँच ग्रन्थ हैं।"

बालकों को सर्व-प्रथम, जब उनका पठनारम्भ कराया जाता था, सिद्धिरस्तु अथवा सिद्धि-रचना (चीनी भाषा)

१ ह्वेन-श्सांग ने लिखा है कि ब्राह्मणों की पुस्तक व्याकरण कहलाती है।

में 'सी-त 'न-चङ्ग') नाम की वर्णमाला की पुस्तक पढ़ाई जाती थी। सिद्धिरस्तु का अर्थ है—'सिद्धि हो'। चीनी इसका शब्दार्थ करते हैं—'सौभाग्यपूर्ण हो'। आज भी मिथिला आदि स्थानों में बालकों को पठनारम्भ के प्रथम 'सिद्धिरस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है। यह और कुछ नहीं, शुभ कार्य मे विघ्न की आशका से लोग मगल शब्द का व्यवहार करते है। पठनारंभ में इस मंगल-शब्द के नाम पर वर्णमाला-पुस्तक का भी नाम था। विद्वान् काश्यप लिखता है कि यह सिद्धिरस्तु की प्रणाली चीन और जापान में भी थी। बोडलियन लायब्रेरी (Oxford) मे सिद्ध के अष्टादश विभाग नाम की पुस्तक मिलती है; किन्तु वह १५६६ ई० की लिखी बताई जाती है। एक और पुस्तक ८८० ई० की लिखी मिलती है। उसका नाम 'सिद्ध-पिटक' अथवा 'सिद्ध-कोष' है। इसका लेखक एन्नन है। इस पुस्तक के आठवें खण्ड मे सिद्ध; अर्थात्—वह जो सिद्ध करता है, के अठारह भागों का विवरण है। इस पुस्तक का आरम्भ 'ओ३म् नमः सर्वज्ञाय सिद्धाम' से किया गया है। इस पुस्तक की विषय-सूची इस प्रकार है—१. सिद्धाम[1] (इसमे सिद्धाम स्वर के लिए लिया है)—१६; २. शरीरवर्ण

१ जिओगान ने भी अपनी पुस्तक 'Anecdota-Oxoniensia में स्वरवर्ण को सिद्धाम बतलाया है।

(व्यञ्जन) ३५; और २ उत्पन्न किये हुए वर्ण (संयुक्ताक्षर वर्ण) आदि। उत्पन्न किये हुए वर्ण का 'क्ख', 'क्यख्य', 'कक्ख' प्रभृति अठारह-विभाग का विवरण आया है।

इ-त्सिग, सिद्धिरस्तु का विवरण इसी प्रकार करता है।

बालक इसे छः वर्ष की आयु मे आरम्भ करते थे और छः मास में पूर्णतया सीख जाते थे। इ-त्सिग कहता है कि भारत मे यह दन्तकथा प्रचलित है कि सर्व प्रथम महेश्वरदेव—शिव—ने इसकी शिक्षा दी।

सिद्धिस्तु की पुस्तक समाप्त कर विद्यार्थी पाणिनि के सूत्र परिश्रम करके ८–९ मास में रट लेते थे। सूत्र के विषय में इ-त्सिग लिखता है—"सूत्र महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की संक्षिप्त व्याख्या है। यह पाणिनि की रचना है। इसमें एक सहस्र श्लोक हैं। पाणिनि अपने समय का एक बड़ा विद्वान् था। भारतीयों का विश्वास है कि महेश्वरदेव उसकी सहायता करते थे।"

दस वर्ष की अवस्था से आरम्भ कर तीन वर्ष तक कठिन परिश्रम करके लड़के तीन खिल-ग्रंथ[1]—

१ खिल संस्कृत म अनुर्वर भूमि को कहते हैं। व्याकरण का यह भाग उसी ऊजड-भूमि के समान है। जिस प्रकार किसान को ऊजड़-भूमि मे कठिन परिश्रम करना होता है, उसी प्रकार का परिश्रम इस ग्रन्थ के अध्ययन में भी है; इसलिए इसका यह नाम है।

अष्टधातु, प्रत्यय (इसे वेन-च अर्थात् मण्ड या मुण्ड लिखा है) और उणादि—का अध्ययन समाप्त करते थे।[1]

पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे विद्यार्थी काशिका-वृत्ति या वृत्तिसूत्र का अध्ययन आरम्भ करते थे। काशिका-वृत्ति

१ अष्टधातु में सु—औ—जस, अम् और शस्, टा-भ्याम्-भिस्, ङे-भ्याम्-भ्यस्, ङसि-भ्याम्-भ्यस्, ङस-ओस् आम और ङि-ओस-सुप्—यह सात विभक्तियो, लट्, लङ्, लिट् लिङ् लुट् लुङ्, लृट् लृङ् लेट और लोट—यह दस लकार और अठारह तिङ् का विवरण है। प्रत्येक सज्ञा की सात विभक्तियाँ होती हैं और प्रत्येक विभक्ति के तीन वचन होते हैं , जैसे—एक वचन द्वि वचन और बहु वचन। इस प्रकार एक संज्ञा के इन सात विभक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न इक्कीस रूप बनते हैं। सम्बोधन मिलाकर आठ विभक्तियाँ होती हैं। इन सातो विभक्तियों को सुप् कहते हैं और अन्त मे सुप-विभक्ति लगी सज्ञा को सुबल कहते हैं। दस लकारो द्वारा क्रिया के भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कालों के भेद प्रकट किये जाते है। क्रिया के तीनों वचनों के उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुष के भिन्न-भिन्न रूप लिङ्, द्वारा बनाये जाते हैं। एक काल मे एक क्रिया के अठारह भिन्न-भिन्न रूप होते हैं—ये तिङन्न कहलाते हैं।

धातु को टि, चाय, टाप, स, कित् घञ्, रायत्, मातृच, टत्र् आदि एक या अनेक प्रत्ययों से भिन्न-भिन्न रूप के शब्दो के बनाने का विवरण खिलग्रन्थ के प्रत्यय-प्रकरण में है। उणादि प्रकरण भी प्रत्यय-प्रकरण का ही एक अग है।

पाणिनी के व्याकरण की सांगोपाङ्ग सर्वश्रेष्ठ टीका है। इसे महापण्डित जयादित्य ने विद्वान् वामन के साथ मिलकर लिखा है।[1] इसमे सब अष्टादश सहस्र श्लोक हैं। पॉच वर्ष तक कठिन परिश्रम करने पर यह वृत्ति समझ में आती हैं। इ-त्सिग ने स्वयं इसका अध्ययन किया था। वह इसको बड़ा ही कठिन समझता है। उसका कहना है—"यह अद्वितीय व्याकरण-ग्रन्थ कुशाग्र-बुद्धि ही अवगमन कर सकते हैं। जिनकी बुद्धि मोटी है, उन्हें तो इसके रटने में चौबीसों घंटे परिश्रम करना पड़ेगा 'उन्हें पिता कुं'ङ्ग (कन्फ्यूशस) के समान परिश्रमी होना चाहिए, जिसने भविष्यत्सूचन की पुस्तक 'यि-किङ्ग' के पढ़ने में उसकी चमड़े की जिल्द तीन बार तोड़ दी थी। इसके अध्ययन से मनुष्य शब्द-विद्या-पारंगत बनते हैं।

काशिका-वृत्ति का पाठ समाप्त होने पर शिक्षार्थी

१ काशिका का मूल-पाठ काशी-सस्कृत-कॉलेज के हिन्दू धर्म-शास्त्र के महामहोपाध्याय पं० बाल शास्त्री ने १८७६–७८ मे प्रकाशित किया था। आपने १, २, ५, और ६ प्रकरण जयादित्य के और शेष वामन के ठहराये है। किन्तु प्रोफेसर बुलहर पहले चार जयादित्य के और दूसरे चार वामन के ठहराता है। जयादित्य का मृत्यु-काल ६६१–६२ मालूम होता है। प्रो० मैक्समूलर ने उसकी मृत्यु का समय ६६० बताया है। फूजिशीमा ६५०—६७० लिखता है।

गद्य और पद्य की रचना सीखते थे। साथ-साथ हेतु-विद्या, अभिधर्म-कोष, न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र आदि न्याय और तर्क के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। धीरे-धीरे वे जातक-माला का अध्ययन कर लेते, इससे उनकी ग्रहण-शक्ति बढ़ती थी, और फिर अध्ययन और अध्यापन साथ-साथ करके अपनी बुद्धि, अनुभव, विद्या और प्राज्ञशीलता परिमार्जित और प्रतिसंस्कृत कर लेते थे। इसके बाद वे नालन्दा, ताम्रलिप्ति बल्लाभी आदि विहारों की विद्वान्-गोष्ठी में अत्यन्त गुह्य सिद्धान्तों को लेकर वाद-विवाद करते थे। इन विवादों से वे प्रसिद्धि पाते थे और उनकी बुद्धि विकसित होती और अनुभव शीलता निखर उठती थी। दो-तीन वर्ष इसी पर्यटन में बीतते थे। फिर वे राज-दरबार में अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन कर ख्यात-नामा विद्वान् बन जाते थे। बड़े-बड़े उनका लोहा मानने लगते थे। इ-त्सिंग कहता है—"जब ये विद्वानों से भरी किसी सभा में नास्तिकवाद का खण्डन करते हैं, तब इनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो उठते हैं, और अपनी पराजय स्वीकार करके चुप हो जाते हैं। चतुर्दिक इनकी कीर्ति-ध्वनि गूँज उठती है। इन्हें भूमि मिलती है और उच्च पद दिया जाता है।"

इनको छोड़कर जो प्रौढ़ विद्यार्थी और अध्ययन करना चाहते थे, वे पतञ्जलि की व्याकरण पर लिखी चूर्णि, भर्तृहरि के वाक्यपदीय तथा उसकी प्रसिद्ध बेडा-

वृत्ति तथा और भी दूसरे दर्शन आदि शास्त्रों का अध्ययन कर प्रकांड विद्वान् बनते थे। किसी-किसी का जीवन विद्याध्ययन में ही बीतता था।

ब्राह्मणों मे बड़े-बड़े विद्वान् होते थे। इससे सर्वत्र उनकी पूजा होती थी। उनका पद सब वर्णों से उच्च था।

इस शिक्षा-पद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इ-त्सिग लिखता है—"एक तो बार-बार कण्ठस्थ करने से बुद्धि विकसित हो जाती है, दूसरे वर्णमाला छात्र के विचारों को स्थिर बना देती है। इस प्रकार दस दिन या एक मास के अभ्यास से उनके विचार निर्झर के समान उठने लगते हैं। एक बार किसी बात को सुनकर वे कंठस्थ कर सकते है, दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं रहती!"

४—बौद्ध-धर्म का प्रसार

इ-त्सिग के समय मे ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म शान्त रूप से अपने-अपने मार्ग पर चल रहे थे। दोनों मे कुछ-कुछ मिश्रण भी होता मालूम पड़ता है। इसके लिए देश में अशान्ति नहीं थी। यों कहिए कि एक घर में एक व्यक्ति बौद्ध था, तो दूसरा ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था। इ-त्सिग ने अपने विवरण में ब्राह्मण-धर्म को बिलकुल छोड़ ही दिया है। हाँ, बौद्ध-धर्म पर उसने

बहुत लिखा है और उससे हमें बौद्ध-धर्म के भिन्न-भिन्न रूप और उसके प्रसार का पता लग जाता है।

उस समय भारत में बौद्ध-धर्म के दो प्रसिद्ध सिद्धान्तों—हीनयान और महायान[१]—से निकलकर चार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय (निकाय) और उनके भीतर सब मिलकर अष्टादश उपसम्प्रदाय बन गये थे। चारो सम्प्रदायों के नाम 'आर्यमहासंघिक-निकाय', 'आर्यस्थविर-निकाय', 'आर्यसम्मितीय-निकाय' और 'आर्यमूलसर्वास्ति-वाद-निकाय' थे।

आर्य महासंघिक-निकाय के सात उपसम्प्रदाय बन गये थे। चीनी भाषा में इसका अनुवाद 'शेङ्ग-ता-चङ्ग-पू' अर्थात्—'महासंघ का श्रेष्ठ समाज' है। इसके तीनों पिटकों में तीन लाख श्लोक पाये जाते हैं। इसके अनुयायी मगध, लाट, सिन्धु और दक्षिण-भारत मे थे। पूर्व-भारत में और सभी निकायों के साथ-साथ इसके माननेवाले भी थे। सुमात्रा-जावा आदि टापुओं में इसका प्रवेश पीछे से हुआ। पश्चिम-चीन में भी इसके कुछ अनुयायी थे। सिंहल-द्वीप इससे कोरा था।

आर्यस्थविर-निकाय के तीन उपसम्प्रदाय थे। इसके त्रिपिटक भी तीन लाख श्लोकों में हैं। दक्षिण-भारत में इसके अनुयायी सबसे अधिक संख्या में थे।

१ इनका विवरण आगे दिया गया है।

सिंहल-द्वीप में भी इसका प्रसार था। मगध, लाट, सिन्धु में भी इसकी कुछ-कुछ गंध थी और पूर्व-भारत मे और-और निकायों के साथ यह भी था। दक्षिण-सागर में इसके बहुत थोड़े अनुयायी थे। चीन में कोई भी इस निकाय का नहीं था।

आर्यसम्मितीय-निकाय के चार उपसम्प्रदाय थे। इनके त्रिपिटक दो लाख श्लोकों में हैं। विनय-पिटक तीस हजार श्लोकों में समाप्त हुआ है। इस निकाय के अनुयायी अधिक नहीं थे। लाट और सिन्धु में इसके अनुयायियों की संख्या अधिक थी। चम्पा (कोचीन-चीन) में भी इस सम्प्रदाय के लोग बहुत थे। मगध, दक्षिण-भारत, पूर्व-भारत (दूसरे-दूसरे निकायों के साथ) और दक्षिण-सागर के द्वीपों में इसका कुछ-कुछ प्रचार था।

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के चार उपसम्प्रदाय थे। इसके त्रिपिटक भी तीन लाख श्लोकों मे समाप्त हुए हैं। इस निकाय की सर्वत्र बड़ी प्रधानता थी। स्वयं हमारा इ-त्सिंग भी इसी का अनुयायी था ; अतः इसका विस्तृत विवरण देना ठीक होगा।

इसके चारों उपसम्प्रदायों के नाम मूलसर्वास्तिवाद-निकाय, धर्मगुप्त-निकाय, महीशासक-निकाय और काश्यपीय-निकाय थे। मगध में इसका बड़ा प्रचार था। इसके सबसे अधिक अनुयायी वहीं थे। उत्तर-भारत में प्रायः

सभी का इससे सम्बन्ध था। लाट, सिन्धु और दक्षिण-भारत में इसके माननेवाले बहुत थोड़े थे। पूर्व-भारत में दूसरे निकायों के साथ-साथ यह भी था। और, दक्षिण सागर के द्वीपों में इसकी प्रधानता वही थी, जो मगध मे थी। केवल चम्पा-द्वीप में इसके अनुयायी कम थे। चीन में यह शेन-सी (पश्चिम-चीन), यङ्ग-त्से-कियंग के दक्षिण मे और कंगतुङ्ग (Canton) और कङ्ग-सी (दक्षिण-चीन) मे यह फैला हुआ था।

यह निकाय बहुत प्राचीन समझा जाता है और यह अशोक की सभा के प्रधान मोग्गलीपुत्त तिस्स (ई० पू० २४०) के कथावस्तु से आरम्भ होता है। अशोक के समय स्थविर आदि अन्य निकायों से इसमें बहुत मतभेद नहीं था। इस समय के महान् आचार्य 'तिस्स' ने केवल तीन ही प्रश्नों का विचार किया है—"१. परिहायति अरहा अरहत्ताति (क्या अर्हत, अर्हत-पद से पतित हो सकता है—मुक्ति से पुनरावृत्ति हो सकती है?), २. सब्बम् अत्थीति (क्या प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है?) और ३. चित्तसन्तति समाधीति (क्या विचार की निरन्तरता समाधि है?)।" 'तिस्स' ने अपने सब्बत्थिवाद में इसका समर्थन किया है। इसी सब्बत्थिवाद को पीछे से भाष्य का रूप देकर बड़ा बनाया गया।

भगवान् बुद्ध के निर्वाण के कोई ३०० वर्ष पश्चात्

कात्यायनी-पुत्र ने ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र का सङ्कलन किया। यही सर्वास्तिवाद-निकाय का आधारतभूत ग्रन्थ है। पीछे कनिष्क के समय में वसुमित्र आदि विद्वानों ने इसकी महाविभाषा नाम की एक वृहत् टीका लिखी। इस भाष्य ने खूब काम किया और सर्वास्तिवाद-निकाय का घर-घर में प्रचार होने लगा। ४०० वर्ष बाद पाँचवीं शताब्दी में महायान-सिद्धान्त के अनुयायी वसुबन्धु ने वसुमित्र के भाष्य का खण्डन अपने अभिधर्मकोश-शास्त्र मे किया। एक बार सर्वास्तिवाद जहाँ घर कर गया था, वहाँ से उसे निकालकर दूर करना असम्भव था। उसके समकालीन सर्वास्तिवाद-निकाय के आचार्य सङ्घभद्र ने अपने न्याया-नुसार-शास्त्र-द्वारा उस कोष के मत का खण्डन भी किया। इस निकाय की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही होती गई। फा-हियन के समय मे इसकी विनय-पुस्तक का संकलन नहीं किया गया था; किन्तु पाटलिपुत्र के आस-पास और चीन में इसके अनुयायी थे। ह्वेन-त्सांग के समय में यह निकाय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। वह इससे सम्बन्ध रखनेवाले कोई तेरह स्थानों का उल्लेख करता है। उत्तरी सीमा पर काशगर, उद्यान और अन्य अनेक स्थान; पश्चिम में फारस, मध्यभारत में मतिपुर, कन्नौज, और राजगृह के आस-पास आदि। सर्वास्तिवाद-निकाय के विस्तार के समान और किसी भी निकाय को इतनी सफलता नहीं मिली।

५—भारत का समाज और रहन-सहन

समाज सुव्यवस्थित, सुसंघटित, सुशासित और विशुद्ध था। देश में राजनीतिक स्थिति नाज़ुक होने पर भी समाज मे अशान्ति नहीं थी। राज-शासन से समाज-शासन दृढ़तर था। समाज में समृद्धि थी। लोग विद्या और धन से सम्पन्न थे। समाज का आधार धर्म था। धर्म के नाम पर कठिन-से-कठिन काम और प्रिय-से-प्रिय वस्तु का त्याग करने को सब लोग सदैव तत्पर रहते थे। प्यास से छटपटाकर प्राण खो बैठना वे स्वीकार कर लेते थे; किन्तु बिना छाने पानी पीना उनके लिए असह्य था। धर्म की लीक पर चलने में किसी भी तरह के दु:ख का वे अनुभव नहीं करते थे।

ब्राह्मण-धर्मावलम्बियों में वर्ण-व्यवस्था का खूब प्रचार था। ब्राह्मणों का सर्वत्र बड़ा सम्मान था। लङ्गोटीधारी ब्राह्मण को, राजा तक अपने आसन से उठकर ससम्मान बैठाते थे। अहिंसा-धर्म सर्वमान्य था। असत्य और चोरी को लोग महान् पाप समझते थे। इ-त्सिंग के विवरण से मालूम होता है कि समाज मे पवित्रता और स्वच्छता का सर्वोत्कृष्ट स्थान था। खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, चलने-फिरने, उठने-बैठने और सोने तक में स्वच्छता का बारीकी से विचार किया जाता था। इ-त्सिंग इस स्वच्छता पर मुग्ध मालूम पड़ता है। यहाँ समाज

की स्थिति का विवरण इ-त्सिंग के लिखे अनुसार देना ठीक होगा।

दैनिक कार्य—सब लोग ब्राह्ममुहूर्त्त में उठते थे। हरिस्मरण (महायान-सिद्धान्त के बौद्ध बुद्ध और बोधिसत्त्वों का) करते हुए गाँव और नगर से दूर निर्जन स्थानों मे वाह्य कहने जाते थे। वाह्य से आकर मिट्टी से मल-मलकर हाथ-पैर और लोटे को साफ करते और फिर दातुन से धीरे-धीरे दाँत और जीभ साफ करते थे। दातुन को दन्त-काष्ठ कहते थे। दातुन की लम्बाई आठ अंगुल से बारह अंगुल तक होती थी। इसके एक सिरे को चबाकर दाँतो को साफ करते, फिर उसे दाँतों ही से चीरकर, उसे कुछ झुकाकर जीभ को रगड़-रगड़कर साफ करते थे। दातुन के अतिरिक्त वे लोहे ताँबे की बनी हुई दन्त-खोदनी का भी उपयोग करते और बाँस या लकड़ी की सलाई (खड़का) भी काम में लाते थे। दातुन को अथवा जल और थूक को बाहर फेंकने के पूर्व कंठ में तीन बार उँगलियाँ करते थे अथवा दो से अधिक बार खाँस लेते थे। सम्युक्त वस्तु अध्याय तेरह मे भगवान् बुद्ध की यह खास चेतावनी है। ऐसा नहीं करने से दातुन फेंकनेवाले को दोष लगता था। दन्त-काष्ठ मधुर सुगन्धयुक्त लकड़ी, जड़ अथवा लता के टुकड़े के होते थे। लाभदायक दन्तकाष्ठ वही समझा जाता था, जो स्वाद में कटु, संकोचक और

तीक्ष्ण हो और जो चबाने से रुई की तरह मुलायम हो जाय। इ-त्सिंग ने हू-ताई (Northern Burrweed) की जड़ के दन्त-काष्ठ का वर्णन किया है। उसने इसकी बड़ी विशेषताएँ बतलाई हैं—"इससे दाँत की जड़ मजबूत रहती है। इसके प्रयोग से मुँह मे सुगन्ध आने लगती है, जठराग्नि तेज और हृदय की जलन दूर होती है। मुँह की दुर्गन्ध एक पक्ष में दूर हो जाती है।" लोग दातुन को पूरी तरह चबाते, दाँतों को खूब मल-मलकर चमकाते और मुख से निकलनेवाले सारे पानी को बाहर थूकने का खूब ध्यान रखते थे। मुँह धोने के बाद बहुत जल लेकर कुल्ला करते और फिर पानी नाक से मुँह के भीतर ले जाकर बाहर फेंक देते थे। इसे दीर्घायु होने का साधन समझते थे।[1] फिर स्वच्छ जल मे स्नान करते और कुछ पूजा-पाठ करके सब अपने-अपने काम में लग जाते थे। अध्ययन-अध्यापन, खेती-गृहस्थी, बढ़ईगिरी—जिसका जो काम होता, करता था। बारह बजे सब भोजन करते थे।

भोजन में स्वच्छता का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। भोजन करने के पहले सब मुँह, हाथ और पाँव को जल से धोकर अलग-अलग लकड़ी के बने पीठे पर बैठते

१ स्वामी विवेकानन्द ने भी अपनी अँगरेजी पुस्तक—कर्मयोग—मे दीर्घायु और स्वस्थ रहने का यही नियम बताया है। —लेखक।

थे। पीठा (पीढ़ा) सात इंच ऊँचा और एक वर्गफूट चौकोर होता था। धनी लोग यही पीठा बेंत का बनवाकर काम में लाते थे। इसके पाये गोल होते थे। सब पैर भूमि पर रखकर खाते थे। थालियाँ उनके सामने रक्खी जाती थीं। भूमि गोबर से लिपी होती थी। चौके में थालियों के नीचे हरे-हरे पत्ते रख लेते थे। खाते समय कोई एक दूसरे का शरीर-स्पर्श नहीं करता था। पीठे एक-एक हाथ के अन्तर पर रक्खे जाते थे। इ-त्सिंग कहता है—"मैंने कभी किसी व्यक्ति को बड़े पलंग या किसी बिछावन पर बैठकर दूसरों के साथ खाते नहीं देखा।" पालथी मारकर साथ-साथ बैठना और घुटनों को बाहर की ओर फैलाकर भोजन करना, उचित रीति नहीं समझी जाती थी। उच्छिष्ट भोजन का खाना घृणास्पद समझा जाता था। निर्धन और धनवान् सभी पवित्र और अपवित्र का भेद मानते थे। एक ग्रास भी खाया हुआ भोजन अपवित्र माना जाता था। खाये हुए जूठे बर्तन में, बिना धोये, नहीं खाते थे। मिट्टी और काठ के बर्त्तन तो एक ही बार प्रयोग में लाते थे। उच्छिष्ट को पक्षी, पशु प्रभृति में बाँट देते थे। बासी भोजन भी वे नहीं खाते थे।

खाने के समय देह-स्पर्श का बड़ा ध्यान रक्खा जाता था। खाकर उठा हुआ मनुष्य भी बिना कुल्ली किये किसी दूसरे की देह छू देता, तो वह अपवित्र समझा

जाता था। कुत्ते से छुआ जाने पर उन्हें अपनी शुद्धि करनी होती थी।

भोजन करके सब एक स्थान मे खड़े होकर हाथ-मुँह अच्छी तरह धोकर साफ हो जाते थे। भोजन के समय काम मे लाई हुई वस्तुओं और जूठे बर्त्तनों को जल और मिट्टी से साफ कर लेते थे। पवित्रता की उपेक्षा को वे अपनी सारी निष्फलता का कारण समझते थे। यदि कोई पवित्र आचरण नहीं रखता, तो लोग उसकी हँसी करते थे। इ-त्सिग लिखता है—"एक समय उत्तर के मंगोलो ने भारत में अपने दूत भेजे। ये सब बाह्य से आकर अपने हाथ नहीं धोते थे। भोजन करके, उस थाली को फिर दुबारा खाने के लिए छोड़ देते थे। वे फर्श पर पैर पसारकर एक-दूसरे को छूते हुए खाते थे। उनका रहन-सहन बड़ा अपवित्र था। फलतः लोग उनसे घृणा करने लगे। जहाँ-तहाँ उनकी हँसी उड़ाई जाने लगी और सब उनकी निन्दा करने लगे।"

पवित्रता के लिए स्वच्छ जल का बहुत प्रयोग होता था। जल के दो बर्तन रखे जाते थे। एक में पीने का पवित्र छाना हुआ जल रहता था, दूसरे मे मुँह-हाथ धोने और दूसरे कामों के लिए। पीने के जल के बर्त्तन मिट्टी के होते थे। इन्हें कलश कहते थे। दूसरा बर्त्तन लोहे या ताँबे का बना होता था। इसका नाम कुण्डी था। दोनों बर्त्तन अलग-अलग रक्खे जाते थे। पीने

के जल का बर्त्तन बिना हाथ धोये कोई नहीं छूता था। जल के बर्त्तन साफ कपड़े या हरे पत्ते से ढँके रहते थे। पानी पीने का लोटा या गिलास सामने रखकर पीते और पीने के पहले और पीछे मिट्टी और पानी से साफ कर लेते थे।

बौद्ध-भिक्षु जब कहीं बाहर यात्रा मे निकलते थे, तब विशेष प्रकार से बने एक साफ और मोटे दोहरे कपड़े के थैले में पानी का बर्त्तन रख लेते थे। भीतर, बर्त्तन के मुँह को, एक कटोरे से ढँक देते थे।

प्रति दिन प्रातःकाल जल की स्वच्छता की परीक्षा करके जल को बर्त्तन में भरते थे। परीक्षा की प्रणाली यह थी—चुल्लू भर पानी काँसे के साफ कटोरे, पीतल के साफ बर्त्तन, शङ्ख अथवा लाख के बासन में रखकर उसे धीरे-धीरे एक ईंट पर गिराते थे। यदि कोई कीड़ा अथवा कुछ दूसरी दूषित वस्तु दिखाई पड़ती, तो उसे बाहर ले जाकर फेंक देते थे और दूसरा साफ जल छान-कर भर लाते थे। साफ पानी भरने के पहले बर्त्तन को दो बार अच्छी तरह धो लेते थे।

इस परीक्षा के लिए एक खास तरह का काष्ठ-यन्त्र भी मिलता था। कूप-जल को भी इसी प्रकार परीक्षा की जाती थी।

पानी छानने के लिए एक विशेष प्रकार की चलनी बनाई जाती थी। कोई चार फीट बारीक श्वेत वस्त्र को

दोहरा करके सुजनी चला देते थे। किनारे से संकुचित करके सी देने से बीच में एक गहरा जाल-सा बन जाता था। फिर इसके किनारे पर लकड़ी का चौखटा इस प्रकार लगा देते थे कि वह हमेशा तना रहे।

दोपहर के भोजन के बाद लोग कुछ विश्राम लेते थे। फिर सब अपने-अपने कामों में लग जाते थे। सन्ध्या को विहारों में या दूसरी जगह विद्वानों की गोष्ठी में जाकर कथा-वार्त्ता और सुन्दर उपदेश सुनते थे।

वस्त्र और भोजन—पुरुष धोती और चादर का प्रयोग करते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। पुरुष एक विशेष प्रकार का जामा भी पहना करते थे। स्त्रियाँ कंचुकी पहना करती थीं। कंचुकी को संघाटी भी कहते थे। धोती और साड़ी के भीतर, पुरुष लंगोट और स्त्रियाँ बेठन (साया)—जिसके अन्तर्वास, निवासन आदि अनेक नाम थे—पहनती थीं। संकच्छिका और प्रतिसंकच्छिका कुक्षि ढँकने के काम मे आती थीं। वे गमछे का प्रयोग भी करते थे। शरीर पोंछने का अंगोछा कायप्रोञ्छन और मुँह पोंछने का मुखप्रोञ्छन कहलाता था। वे सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। रेशमी (कौषेय) वस्त्र बड़े चाव से पहने जाते थे।

गहने पहनने की प्रथा भी थी। सोने के गहने अधिक प्रयोग में आते थे। चाँदी के गहने भी पहने जाते

थे। सोने के आभूषण कटि के नीचे पहनने की प्रथा नहीं थी। ये गहने स्त्रियाँ ही पहनती थीं। गहनो मे कुण्डल (कानो में), कर्णफूल, स्तवक, चन्द्रहार या ग्रीवाहार, कंकण, बिजायठ, किंकिणि, अँगूठी आदि मुख्य थे। शंख की चूड़ी पहनने की प्रथा अधिक थी। धनवानों के घर की स्त्रियाँ हीरे आदि बहुमूल्य रत्नों से जड़े गहने भी पहनती थीं। पुरुष तांबे या सोने की अँगूठी भी पहनते थे। इसे वे पवित्री कहते थे।

भोजन की चीजें दो प्रकार की होती थीं—पञ्च-भोजनीयम् और पञ्चखादनीयम्। कोमल और गीले भोजन, जो निगलकर खाये जाते थे, खादनीयम् और कठिन और चबाकर अथवा पीसकर खानेवाले भोजन को भोजनीयम् कहते थे। भोजनीयम् में चावल, जौ और मटर की उबाली हुई खिचड़ी, भुना हुआ मक्का का आटा, मांस और मीठी रोटियाँ लेते थे। मूल, डण्ठल, पत्ते, फूल, फल आदि खादनीयम् थे। शलजम, सेम, तरोई आदि की तरकारी; आम, नीबू, नारङ्गी आदि फल मिलते थे। इन्हें लोग चाव से खाते भी थे। बौद्ध-भिक्षु भी तीन प्रकार से दिये गये पशु आदि के मांस खाते थे—१. जब पशु की हत्या अपने लिए होती न देखी गई हो; २. जब यह न सुना गया हो कि यह पशु मेरे लिये मारा गया है; और ३. जब यह सन्देह न हो कि यह मेरे लिए मारा गया है।

आचार-व्यवहार—अवस्था में छोटे व्यक्ति अपने बड़ों का बड़ा सम्मान करते थे। ब्राह्मण, बौद्ध-भिक्षुओं तथा विद्यावानों में अवस्था-भेद नहीं था। वे सदैव सत्कार के पात्र थे। छोटे-बड़े सभी उन्हें बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वे बड़ों को नतमस्तक हो तथा चरण-स्पर्श करके प्रणाम करते और बड़े लोग वात्सल्य-भरी दृष्टि से उनका माथा सूँघकर आशीर्वाद देते थे। खाने, पीने, दातुन करने अथवा टट्टी जाते-आते समय प्रणाम करने का नियम नहीं था। सभी अपने गुरु माता, पिता तथा दूसरे श्रेष्ठ जनो के बड़े आज्ञाकारी होते थे। उनके सामने अत्यन्त नम्र होकर रहते—उद्धतपन कभी नहीं दिखाते थे। उनकी उपस्थिति में किसी दूसरे पर क्रुद्ध होना, किसी से हँस-हँसकर बातें करना, जोर से बोलना अथया उनकी बातो में बिना पूछे दखल देना निन्दनीय समझा जाता था। रोग की अवथा को छोड़ के किसी श्रेष्ठ जन के सामने न ऊँचे आसन पर बैठते थे, न लेटे रहते थे और न खड़ाऊँ पहनकर ही चलते थे। हाँ, उनकी आज्ञा से वे खड़ाऊँ पहनकर चल सकते थे। शीत-काल में भी पहनने की आज्ञा थी।

घर में जो पुरुष अवस्था मे बड़ा होता, उसको सभी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। साधारणतः पिता घर का स्वामी होता था। पिता के मरने पर स्त्री स्वामिनी नहीं, प्रत्युत उसका पुत्र स्वामी बनता था। पुरुष बाहर का

काम करता था। स्त्रियाँ घर सँभालती थीं। गृह-कार्य में पुरुष हस्तक्षेप नहीं करता था। घर मे स्त्रियों का बड़ा सम्मान था। पिता के बाद माँ का ही स्थान था।

यद्यपि स्त्रियाँ पर्दा नही करती थीं; तथापि उन्हें कुछ विशेष नियमों का सीमोल्लंघन किसी भी स्थिति में नहीं करना होता था। स्त्रियाँ अकेली यात्रा नही करती थीं। अकेली नदी को पार नहीं कर सकती थीं। किसी पर-पुरुष की देह छूना अत्यन्त ही निन्दनीय समझा जाता था। पुरुषों के सम्पर्क में स्त्रियाँ नहीं रहती थीं। ऐसा नियम था कि कोई स्त्री किसी के विवाह-सम्बन्ध में न पड़े। किसी भिक्षुणी के भारी अपराध करने पर छिपावे नहीं। दूसरे की वस्तुएँ बिना दिये न ले। बिना जीती हुई भूमि को न खुरेदे। बढ़ती हुई घास और पेड़ों को इच्छा-पूर्वक न काटे और न बिना दिये कुछ खाय और न उच्छिष्ट भोजन करे।

इस प्रकार का छोटे-बड़े का नियम समाज को सुखद और शान्तिमय बनाये रहता था। जिस घर में पिता का वात्सल्यपूर्ण शासन हो, माँ का निस्पृह सेवा-कार्य होता हो, पुत्र और कन्या आज्ञाकारी हो, स्त्रियाँ पति-परायणा और शुद्ध आचरण रखनेवाली हों, वह घर क्यों न सुखमय और शान्तिपूर्ण रहा होगा? राजा लोग भले ही युद्ध की रण-भेरी बजाते रहे हों; किन्तु सामाजिक जीवन में तो चैन की बंशी ही बजती थी;

अतिथि-सेवा—अतिथि-सेवा महान् धर्म समझा जाता था। आगत बड़ा है या छोटा, इसका विचार कभी नहीं किया जाता था। वह सदैव सेवा और सत्कार का पात्र रहता था। द्वार पर किसी अतिथि के आते ही घर का दास या स्वयं मालिक उसका सामान उतारकर संयम से रख देता, और जल देकर हाथ-पैर और मुँह धोने को कहता। मुँह-हाथ धोकर जब नवागत स्थिर होकर बैठता, तब उसे घृत, मधु, चीनी मिलाकर अथवा कोई शर्बत बनाकर पीने को देते। उससे प्रेम से बातें करते। घुल-घुलकर घर और उसके रहने के स्थानों तथा उसके निज के विषय में पूछ-ताछ करते तथा श्रेष्ठ विद्वानों से सुन्दर उपदेश भी सुनते थे। जब भोजन का समय होता, तब उसे श्रद्धापूर्वक घर में ले जाकर भोजन कराते। भोजन कराते समय अतिथि-सेवी सदैव उसके पास रहते। भोजन के बाद अतिथि के विश्राम का प्रबन्ध कर देते। जब तक अतिथि खा नहीं लेता, तब तक घर का एक बच्चा भी न खाता था। जाते समय उस नवागत को वे नत-मस्तक होकर 'वन्दे' कहते और कुछ दूर तक साथ चलकर रास्ता दिखा देते थे।

रोग की सामाजिक चिकित्सा—इ-त्सिग के समय में बड़े-बड़े और असाध्य-से-असाध्य रोगों की चिकित्सा भारत में होती थी। भारत मे उस समय

महान् अनुभवी वैद्यों की कमी न थी। बहुमूल्य दवाएँ बनाई जाती थीं। उन्हें जड़ी-बूटियों का अच्छा ज्ञान था। वे लोग वैद्यों का बड़ा सम्मान करते थे। इ-त्सिग ने भी वैद्यक के बहुत-से ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वैद्यों के अतिरिक्त घरों में भी छोटी-छोटी दवाओं-द्वारा भारी-से-भारी रोग का निवारण कर लिया जाता था। गर्भवती तथा प्रसूता स्त्रियों की चिकित्सा, बच्चों के रोगों का निदान और उसकी दवा घर की स्त्रियाँ अच्छी तरह जानती थीं। सर्दी, बुखार, व्रण, अतिसार आदि मामूली दवा से आराम कर दिये जाते थे। उनकी मुख्य दवाएँ हरीतकी, हींग, आदी, मधु, सोंठ, पीपल, कपूर, आँवला आदि थे। सभी बीमारियों का मूल कारण आमाशय का ठीक न रहना ही समझा जाता था। इससे पेट को साफ रखने पर पूरा ध्यान दिया जाता था। किसी भी बीमारी में उपवास का उपचार विशेषतः किया जाता था।

इ-त्सिग ने अपनी यात्रा के विवरण में भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। वह लिखता है—"चिकित्सा-शास्त्र के आठ प्रकरण हैं—पहले में सब प्रकार के व्रणों (घावों) का वर्णन है; दूसरे में गले से ऊपर की सभी प्रकार की बीमारियों का शस्त्र-क्रिया से उपचार करने का; तीसरे में शरीर के रोगों का; चौथे में भूत-पिशाच के आक्रमण का (इसे

आसुरी-आत्मा का आक्रमण समझते थे) ; पाँचवें में अगद् औषधि अर्थात् विष-सम्बन्धी इलाज का ; छठे में बालकों के रोगों का ; सातवें में आयु के बढ़ाने का और आठवें मे शरीर और टाँगों के पुष्ट करने का विवरण है।" आगे वह कहता है—"जब किसी को कोई बीमारी हो जाय, तो उसे तत्काल विश्राम और उपचार करना चाहिए। जो बीमारी का उपचार किये बिना रोग-मुक्त होना चाहते हैं, उनकी इच्छा उसी मनुष्य के समान है, जो जल की धार को बाँधने की इच्छा रखते हुए उनके सोतो पर बाँध नहीं बाँधते—जो वन को काट डालना चाहते है ; परन्तु वृक्ष को जड़ से नही काट गिराते। विष खाना, रोग होना या जन्म-मृत्यु प्रायः मनुष्य के पूर्व-जन्म का फल है ; फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य इनका उपचार न करे अथवा अपनी दशा सुधारने मे किसी प्रकार का सङ्कोच करे।" वैद्यो की प्रशंसा करते हुए वह लिखता है—"केवल सूत्र रट लेने से कोई वैद्य नही बन जाता। यह बड़ा ही गहन विषय है, और इस शास्त्र में अनुभव और कार्य-कुशलता की बड़ी आवश्यकता है। बिना अनुभव के कोई भी वैद्य चिकित्सा मे सफल नहीं हो सकता। यह विषय बहुत ही सुन्दर है। यदि लोग चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करके दूसरों की तथा अपनी भलाई करें, तो यह कम उपकार का काम नहीं।" इ-त्सिग ने उपवास-चिकित्सा की बड़ी

महिमा गाई है। वह कहता है—"इसमे न तो गरम लोहे से दागने का कष्ट सहना पड़ता है और न कंठ को मलने का। यह भैषज्य-शास्त्र का सर्वश्रेष्ठ उपचार है। न किसी क्वाथ का सेवन करना पड़ता, न दवा ही खानी पड़ती है। आमाशय खाली होने से प्रचण्ड ज्वर भी शान्त हो जाता है। जब उपवास से भोजन का रस सूखता है, तब श्लेष्मल रोग (कफ-सर्दी) दूर हो जाते है, और जब अन्तरिन्द्रियाँ विश्राम कर लेती हैं, भीतर की वायु बिखर जाती है, तब कड़ी सर्दी सहज ही दूर हो जाती है। वस्तुतः यह उपवास का उपचार बड़ा सुन्दर है। इस उपचार के ज्ञान सेसभी जीवक (बुद्ध के समय का एक प्रसिद्ध वैद्य) बन सकते हैं। प्रसिद्ध वैद्यों के यहाॅ गरीब-कंगालों का निर्वाह नहीं। उनसे आशा रखकर द्रव्य-हीन व्यक्ति अवश्य ही अपने प्राण खो देगा; किन्तु उपवास ही एक इतनी महत्त्वपूर्ण चिकित्सा है, जिससे धनवान् और निर्धन समानरूप से रोग-मुक्त हो सकते हैं।" भैषज्य-शास्त्र की दृष्टि से इ-त्सिग प्याज-लहसुन को हानिकर और दूषित बतलाता है। भारत मे कहीं भी प्याज नहीं खाया जाता था। कहीं-कहीं दवा के रूप मे लोग प्याज खाते थे; किन्तु अच्छे वैद्य इसे खाने की मनाही करते थे। इ-त्सिग ने लिखा है—"मेरा मन कभी-कभी प्याज खाने को ललच जाता था; किन्तु जब मैं धार्मिक उपवास करता, तब वह बहुत कष्ट देता था।" वह कहता

है—"यह खाने की वस्तु नहीं है। इससे नेत्र-दृष्टि जाती रहती है। पेट खराब हो जाता है। और भी कितने ही रोग शरीर में घर बना लेते हैं।"

कुछ निम्न श्रेणी के समाज में बहुत ही बुरी और दूषित वस्तुओं की दवा बनाई जाती थी। इ-त्सिंग इस प्रकार की दवाओं मे एक 'भुजंगकाथ' का उल्लेख करता है। यह काथ मूत्र, विष्ठा, घोड़े, सूअर, बिल्ली आदि की लीद से बनाया जाता था। यह कभी-कभी बीमारी को सांघातिक बना देता था। इस समाज के व्यक्ति जब बौद्ध-भिक्षुओं के संघ मे आते थे, तब उन्हें सात दिन तक उपवास, स्नान और प्रक्षालन करना होता था। गाय का मूत्र अच्छे-अच्छे वैद्य काम मे लाते थे।

मृत्यु—परिवार मे किसी की मृत्यु हो जाने पर सारा घर दुःख के सागर में डूब जाता था। घर-भर में शोक-क्रन्दन होने लगता था। बुद्ध और ब्राह्मण-धर्म के दार्शनिकों ने शोक करना व्यर्थ लिखा है; किन्तु उस समय लोग 'विनय' और 'दर्शन' को भूल जाते थे।

मृत शरीर को श्मशान-घाट ले जाने के लिए समाज मे इसका शोक-सूचक निमन्त्रण दिया जाता था। सब लोग आकर सहायता करते और बाँस की अर्थी बनाकर मृत देह को जलाने ले जाते थे। यहाँ पर बौद्ध विनय के अनुसार कुछ सूत्रों का उच्चारण करते हुए शव को जलाया जाता था। ब्राह्मण-धर्मवालों में वैदिक-क्रिया प्रचलित

थी। शव के जल जाने पर सब एकत्र होते, संसार की अनित्यता का ध्यान करते और साथ-साथ कुछ प्रासंगिक सूत्रोच्चारण भी करते। इसके बाद सब नदी या तालाब पर जाकर स्नान करते और घर आते थे। तालाब न मिलने पर कुएँ पर ही स्नान कर लेते थे। घर को गाय के गोबर से लीपकर पवित्र कर लेते थे। कभी-कभी किसी मृतक के शव-दाह की जगह मन्दिर या स्तूप बना दिये जाते थे। शोक दिखाने के लिए अपने माथे के केश कटा लेते थे।[1] वैदिक-क्रिया मे शुद्धि के लिए कुछ अधिक नियम थे। श्राद्ध-पद्धति प्रचलित थी; किन्तु बौद्ध-धर्मावलम्बी सात दिनों का उपवास करते थे। यह उपवास शुद्धि के लिए नहीं; किन्तु शोक की सूचना के लिए था। यह उपवास विनय में प्रशस्ति नहीं पाता। उसका सिद्धान्त है कि ऐसा करने से मनुष्य अन्धकार से निकलकर फिर अन्धकार मे प्रवेश करता है—पुनर्जन्म लेकर पाप की बेड़ी से बँध जाता है। शोक से उत्पन्न ममता उसे निर्वाण के पथ से फेर लाती है। ब्राह्मण-धर्म के दार्शनिकों का भी यही कहना है।

समाज के पर्व—वर्ष में पर्व के कई दिन आते थे। उन दिनों पर समाज में बड़ी चहल-पहल

१ यह प्रथा उस समय सुमात्रा, जावा आदि दक्षिण-सागर के द्वीपों में भी प्रचलित थी। —लेखक

रहती थी। घर के स्त्री-पुरुष, बाल-बच्चे सब मिलकर पर्व का आनन्द मनाते थे। उपवास तथा स्नान-द्वारा शरीर को शुद्ध करते, नवीन वस्त्र पहनते और सामर्थ्य-भर व्यय करते थे। घर-घर भिक्षु और ब्राह्मण विद्वानों तथा पड़ोसियों को निमन्त्रण देकर सुन्दर-सुन्दर सुरुचि-पूर्ण भोजन कराते थे। दिन-भर सर्वत्र आनन्द मचा रहता था। किसी-किसी पर्व में तो कई दिन लगते थे।

बौद्धों के दो प्रसिद्ध पर्व उल्लेखनीय हैं। प्रवारण-दिवस का उत्सव विहार में ही मनाया जाता था। संघ के भिक्षु से लेकर साधारण गृहस्थ बौद्ध तक विहार मे आ जुटते थे। इत्सिग ने लिखा है कि प्रवारण-दिवस पर जनता मेघ और कुहरे के समान उमड़ पड़ती थी।

प्रवारण-दिवस यथार्थतः प्रायश्चित्त-दिवस को कहते हैं। यह ग्रीष्म-एकान्त[1] की समाप्ति के दिन किया जाता था। भिक्षु या साधारण बौद्ध, यदि त्रिपिटक के विरुद्ध कार्य करते, तो अपने आप ही इस अवसर पर अपना दोष

१ ग्रीष्म-ऋतु की समाप्ति पर, जब १५ दिन बच रहते थे, तब सघ के बौद्ध-भिक्षु १४ दिन एकान्त-वास करते थे। पन्द्रहवें दिन (१४ वें दिन की रात से ही) प्रवारण का उत्सव मनाया जाता था।

प्रकट करते और विद्वान् भिक्षु वहीं उनके दोष-युक्त कर्म का निराकरण कर देते थे। वे प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जाते थे। ग्रीष्म-एकान्त के चौदहवें दिन की रात से ही समारोह के साथ पूजा होने लगती थी। भक्तजन तथा भिक्षु चैत्यों (विहारों) मे आ-आकर पूजा करते; धूप, दीप, अक्षत, पुष्प बुद्ध की प्रतिमा पर चढ़ाते थे। गायन-वादन और त्रिपिटक-पाठ भी होता था। पन्द्रहवे दिन प्रातःकाल ही एक विशाल जन-समुदाय का जलूस नगरों और ग्रामों मे निकलता था। ढोल, नगारे, बजते थे। जयजयकार भी होता था। जलूस के आगे छतदार गाड़ी अथवा पालकी मे ही भगवान् बुद्ध की भव्य प्रतिमा रहती थी। यह जुलूस ग्यारह बजे (दिन में) के लगभग लौटकर विहार मे पहुँच जाता था। दोपहर को महोपवशथ-प्रक्रिया होती थी। तीसरे प्रहर हरे नागरमोथे को हाथ या पैरों से रौंधने की प्रथा थी। पहले भिक्षु, फिर भिक्षुणी तथा शेष लोग क्रम से तीन श्रेणियों मे विभक्त होकर यह विधि करते थे। यदि बहुत समय लगने की आशंका होती, तो विहार के प्रधान-द्वारा सबको एक साथ यह विधि करने की आज्ञा मिल जाती थी।

इसके बाद, भक्तजन जो वस्तुएँ अपने साथ दान के लिए घर से लाते थे, उन्हें श्रद्धापूर्वक चैत्य के स्थविर के सामने रख देते थे। स्थविर की आज्ञा से वे चीजें

भिक्षुओं में बाँट दी जाती थीं। इस दान मे चाकू, सुइयाँ, सुतारियाँ आदि विशेष रूप से रक्खी जाती थीं। उनका यह विश्वास था कि इन चीजों के ग्रहण करनेवालों को तीक्ष्ण बुद्धि और प्रज्ञा मिलती है।

इस प्रकार प्रवारण-क्रिया समाप्त तथा अपना दोष सबके सामने प्रकट करके फिर से ऐसा न करने की प्रतिज्ञा करते और पूजा का विसर्जन कर अपने-अपने घर जाते थे।

दूसरे पर्व का नाम उपवसथ है। इस दिन गृहस्थ उपवास, धर्मानुष्ठान, कीर्त्तन आदि करते थे। इसमें भिक्षुओं को खिलाना मुख्य था। विशेष रूप से आमन्त्रित करके बड़े समारोह से बौद्ध-भिक्षुओं तथा विद्वानों को रुचिपूर्ण भोजन कराया जाता था। उपवसथ करने के दिन त्योहार करनेवाला भिक्षुओं के समीप जाकर नतमस्तक हो प्रणाम करता और निमन्त्रण की सूचना देता था।

आँगन और घर सब झाड़-बुहारकर साफ करते थे। गाय के गोबर से सब लीप दिया जाता था। भोजन करने की कोठरी विशेष रूप से स्वच्छ और पवित्र की जाती थी। नियमित दूरी पर पीठे रक्खे जाते और एक स्वच्छ घड़े में परीक्षा किया हुआ निर्मल जल भर दिया जाता था। भिक्षुओ के लिए आसन और बर्त्तनों का प्रबन्ध निमन्त्रण

देनेवाला स्वयं करता था। यदि उसके पास आसन और बर्त्तन पूरे न होते, तो वह विहार से अथवा किसी दूसरी जगह से माँग लाता था। भोज मे ताँबे के बर्त्तन ही प्रयुक्त होते थे। कहीं-कहीं मिट्टी के बर्त्तन भी काम मे आते थे।

जब भिक्षुगण आते, तब लोटे में जल भरकर सब को पाद-प्रक्षालन के लिए दिया जाता था। वे लोटे के जल की परीक्षा करते और यदि जल मे कीटाणु न होते, तो उससे पैर धो लेते थे। अपने कंचुक के बन्द खोल देते और पीठे पर जाकर कुछ देर विश्राम करते थे। जब सूर्य माथे पर आ जाता, तब गृहपति उनके सामने आकर कहता था—"यह ठीक समय है।" सूचना पाकर भिक्षु अपने कंचुक को दोनों कानों से लपेटकर और अपनी धोती के अंचल के दाये छोर को गर्दन पर से ले जाकर बाईं ओर कमर में कस लेते थे। फिर मटर के बारीक चूर्ण अथवा मिट्टी से ही हाथ को रगड़कर साफ करते थे। भिक्षु जब खाने को तैयार हो जाते, तब थालियाँ उनके सामने रक्खी जाती थीं। वे इन्हें कुछ पानी लेकर धो लेते थे। भोजन के पहले प्रार्थना की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। गृहपति हाथ-पाँव धोकर आसनों के अग्रभाग में रक्खी अर्हतों की प्रतिमाओं को अपनी सामर्थ्य के अनुसार पूजा के उपादान अर्पित करते और इसके बाद भिक्षुओं की थालियों में भोजन की वस्तुएँ परोसी जाती थीं। पंक्ति के अन्त में माता

हारिती[1] के नाम पर भोजन की एक थाली रखते थे।

भोजन परोसने की प्रणाली यों थी—पहले अँगूठे के परिमाण के एक-एक दो-दो टुकड़े अदरक के परोसे जाते और साथ-साथ एक अलग पत्ते पर एक-डेढ़ चम्मच नमक परोसा जाता था। नमक परोसनेवाला सबसे पूर्व प्रधान भिक्षु के सामने घुटनों के बल झुककर तथा कर-

१ माता हारिती एक कल्पित राक्षसी मालूम होती है। इसकी कहानी यों है—पहले जन्म मे हारिती ने किसी कारण-विशेष से यह शपथ ली कि राजगृह के सभी बच्चों को कच्चा चबा जाऊँगी। शपथ के फल से वह मर गई और राक्षसी का जन्म लिया। इस जन्म मे उसके पॉच सौ बच्चे हुए। वह प्रतिदिन कुछ-न-कुछ राजगृह के बच्चे खा लेती। कुछ लोगो ने इसकी सूचना बुद्ध को दी। बुद्ध ने उसके एक सबसे प्यारे बच्चे को छिपा रक्खा। जब हारिती को वह बच्चा न मिला, तब वह व्याकुल होकर स्थान-स्थान पर खोजने लगी। अन्त मे वह बुद्ध के पास मिला। बुद्ध ने कहा—"देख, तू अपने पॉच सौ बच्चो मे से एक के खो जाने पर तो इतनी आकुल हो रही है, पर जिसके एक ही दो बच्चे थे और उन्हे तू खा गई, वह मॉ कैसे जीती होगी?" हारिती इस पर बहुत पश्चात्ताप करने लगी। उसने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया और उपासिका बन गई। उसे अब उन पॉच सौ बच्चो के लिए चिन्ता हुई। बुद्ध ने उसकी चिन्ता दूर कर दी और कहा—"प्रत्येक विहार में प्रतिदिन

बद्ध होकर धीरे से कहता था—'सम्प्रागतम्'[१]। इस पर जब प्रधान भिक्षु कह देता—'समान रूप से भोजन परोसो', तब भोजन परोसा जाता।

भोजन परोसनेवाला अतिथियों के सामने एक पैर पंक्ति मे रखकर आदर-पूर्वक प्रणाम करता और हाथों में मीठो रोटियाँ, फल आदि लेकर कुछ ऊपर से परोसता था।

भिक्षुगण जो चढावा चढाते हैं, उसमे से तेरी सन्तान को पर्याप्त भोजन मिल जाया करेगा।"

उसी दिन से विहारो और अन्य भोजों मे इसे नैवेद्य दिया जाता था। उपवसथ दिवस पर बौद्ध-गृहस्थो के यहाँ इसकी विशेष रूप से पूजा होती और चढावा चढाया जाता था।

—'इ-त्सिग की भारत यात्रा'।

१ सम्प्रागतम् का अनुवाद है शुभागमनम। भाव यह है कि मिष्ठान्न भोजन पूर्ण रूप से जुटा हुआ है और खाने का समय ठीक आ पहुँचा है ; किन्तु ई-त्सिग इसे एक मन्त्र समझता है। इसकी कहानी इस प्रकार है—एक बार भगवान् बुद्ध अपनी शिष्य मडली के साथ कही भोजन करने गये। वहाँ उन्हे भोजन मे विष मिलाकर खाने को दिया गया। बुद्ध को यह बात मालूम हो गई और उन्होने अपने शिष्यों को 'सम्प्रागतम्' कहने की शिक्षा दी। इस शब्द के उच्चारण से भोजन का विष जाता रहा।

—'इ-त्सिग की भारतयात्रा'।

भिक्षु अपनी इच्छा-भर जो चीज जितनी चाहते, ले सकते; किन्तु लेकर व्यर्थ नष्ट नहीं कर सकते थे। सबकी थालियों में परोस दिये जाने पर एक साथ भोजन करने का नियम नहीं था। जिसकी थाली मे भोजन पहुँच जाते, वे खाने लगते थे।

भोजन कर लेने पर भिक्षु हाथ-मुँह धोकर पवित्र हो लेते; फिर दायें हाथ में कुछ भोजन लेकर स्थविर के सामने आते और प्रणाम करते थे। स्थविर उस मुट्ठी-भर भोजन पर एक-एक करके जल छींटता और अधोलिखित शुभेच्छा प्रकट करता था—

"धर्म-कार्य के बल से हम प्रेतलोक को लाभ पहुँचावें; वे प्रेत इस भोजन को खाकर मृत्यु के अनन्तर सुखद अवस्था मे पुनः जन्म लें। स्वकीय पुण्य-कर्मों से उत्पन्न होनेवाला बोधिसत्व का आनन्द असीम नभोमंडल के सदृश अगाध है। परोपकार-द्वारा ही मनुष्य बोधिसत्व होने का आनन्द ले सकता है; इसलिए हमें सदैव परोपकार करते रहना चाहिए।"

इसके बाद उस भोजन को सब मृतकों को देने की इच्छा से किसी गुप्त स्थान—वन, नदी, सरोवर आदि—मे फेंक आते थे; पश्चात् दातुन से मुँह आदि भली-भाँति साफ करके शुद्ध हो लेते थे। भोजन के बाद गृहपति अपनी सामर्थ्य के अनुसार भिक्षुओं को कुछ-कुछ दान भी करते

थे। चलते समय सभी भिक्षु गृहपति से कहते जाते थे— जो भी पुण्यकार्य किये गये हैं, उन सबको मैं सहर्ष पसन्द करता हूँ।

भोजन का उच्छिष्ट किसी को देने-न देने का अधिकार भिक्षु को ही था। इसमें दानपति कोई हस्तक्षेप न करते थे। भिक्षु की आज्ञा से, वह उच्छिष्ट साधारण-तथा गरीबों मे बाँट दिया जाता था।

कभी-कभी गायन-वादन का भी प्रबन्ध रहता था। गृहपति बुद्ध या किसी बोधिसत्व की प्रतिमा लेकर रखते थे। मध्याह्न-वेला मे भिक्षु आकर प्रतिमा के सामने घुटने टेककर प्रणाम करते और बाजों के साथ बुद्ध-गुण-गाथा गाते थे। दूसरा गीत गाने का नियम नहीं था। इस गायनोत्सव में बड़ी चहल-पहल थी। गृहपति बार-बार धूप-दीप जलाकर उत्सव को आकर्षक बनाते थे। सर्वत्र एक नूतनता-सी छा जाती थी। एक अलौकिक आनन्द उमड़ पड़ता था।

इस पर्व मे, जिससे जितना बन पड़ता अधिकाधिक व्यय करता था। कितने ही विख्यात उपवसथ-पर्वों का उल्लेख तो त्रिपिटक-ग्रन्थों मे भी आया है। इसी प्रकार का विनय-सूत्रों में राजा प्रसेनजित के किये उपवसथ का उल्लेख है। इ-त्सिग लिखता है—"राजा प्रसेनजित ने बुद्ध के समय में उपवसथ के दिवस पर इतना बड़ा भोज किया था कि वहाँ घी, मलाई आदि की नदी-सी

बह गई।" इ-त्सिंग जब ताम्रलिप्ति पहुँचा, तब वहाँ उसने उपवसथ करके कुछ भिक्षुओं को खिलाने की इच्छा प्रकट की ; किन्तु वहाँ के कुछ लोगों ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। उन्होंने उससे कहा—"अतिथियों के लिए पर्याप्त भोजन एकत्र कर लेना असम्भव नहीं ; किन्तु परम्परागत रीति के अनुसार विपुल सामग्रियों का एकत्रण आवश्यक है। यदि भोजन की सामग्री केवल पेट की ज्वाला ही शान्त करने के लिए पर्याप्त होगी, तो लोगों के हँसने का भय है। आप एक ऐसे महादेश के व्यक्ति हैं, जो अपनी उर्वर-शक्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है। यदि आप परम्परा के अनुकूल सामग्री न जुटा सके, तो केवल यह आपकी हँसी नहीं, बल्कि आपके देश की हँसी होगी ; इसलिए अच्छा हो कि इसका विचार ही आप छोड़ दें।"

६—विहार

विहार केवल बौद्ध-भिक्षुओं के रहने का ही स्थान नहीं था, शिक्षा का काम भी उसमें होता था। बौद्ध-विहार विद्वानों से भरे रहते थे। उनमें सैकड़ों विद्यार्थी रहते और उनसे पढ़ते थे। विहारों की अपनी जमीन होती थी। उसकी उपज तथा समृद्धशील बौद्ध राजा तथा धनी गृहस्थों की सहायता से विहार का खर्च चलता था। भिक्षु अपने हाथों से खेतों में फसल नहीं उपजाते थे। वे या तो नौकर

रखकर कृषि-कार्य सम्पादन करने, अथवा किसानों को देकर उनसे उपज का तीसरा भाग लेते थे। अपने हाथों कृषि करने में वे सांसारिक झंझटों का अनुभव करते और इन कामों को हिंसा से खाली न समझते थे।

विहार का शासन-प्रबन्ध भिक्षुओं की एक सभा-द्वारा होता था। सभा के नियम कड़े थे और विहार मे रहनेवालों को वे नियम अक्षरशः पालन करने पड़ते थे। जो नियमोल्लंघन करता, उसे संघ और विहार से निकाल दिया जाता था। सभा का प्रधान, प्रकांड विद्वान् होता था।

विहार की कोठरी साधारणतः संकीर्ण हुआ करती थी। एक कोठरी मे एक-दो भिक्षु से अधिक नहीं सो सकते थे। जगह न होने के कारण भिक्षु रात मे सोने के समय बिछौना करते और प्रातःकाल उठते ही सब बाहर निकाल देते थे। आचार्य की कोठरी सबसे अच्छी होती थी।

विहार में अतिथि-सत्कार का बड़ा ही सुन्दर प्रबन्ध था। यदि कोई अपरिचित भिक्षु विहार मे आते, तो पाँच दिनों तक उनका अतिथि-सत्कार किया जाता और इसके बाद साधारण भिक्षुओं की तरह उनके साथ व्यवहार होने लगता था।

स्वच्छता पर, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, बड़ा

ध्यान दिया जाता था। खान-पान, रहन-सहन, सब में स्वच्छता की प्रधानता थी। प्रतिदिन प्रातःकाल विहार का प्रधान कूप-जल तथा भोजन का निरीक्षण और परीक्षण कर लेता था। यदि वह स्वच्छ न होता, तो उसका प्रयोग रोक दिया जाता था। प्रधान की आज्ञा के बिना कोई पानी तक नहीं छूता था।

प्रतिदिन नित्य-क्रिया से जब भिक्षु-गण निबट लेते, विहार के सभी व्यक्ति मिलकर बुद्ध-कीर्त्तन करते थे। कीर्त्तन के तीन भाग थे। बुद्ध के अमृत समान वचनों का पाठ, प्रार्थना के गीतों का गान तथा बुद्ध, धर्म, संघ आदि त्रिरत्न की बन्दना। स्तुति के समाप्त होने पर सब आचार्य के सिंहासन की प्रदक्षिणा करके प्रणाम करते; फिर सब अपने-अपने कामों मे लग जाते थे। इन पूजाओं के अतिरिक्त भी बिहारों में हारिती, काला देवता, नाग महासुचितिन्द आदि की प्रतिमाएँ थीं, जिनकी वे पूजा करते और उन पर नैवेद्य चढ़ाते थे।

माता हारिती की प्रतिमा विहार की पाकशाला अथवा भोजन-गृह के ओसारे मे एक कोने पर रहती थी। प्रतिमा के हाथों मे एक बच्चा रहता था; उसके घुटनों के समीप तीन या पाँच बालक और होते थे। इ-त्सिग ने लिखा है—"हारिती मे धन और सन्तान देने की बड़ी शक्ति है। उसकी पूजा करने से सारी मनोकामनाएँ सिद्ध होती हैं" •

काले देवता की मूर्ति पाकशाला के स्तम्भ के पार्श्व पर अथवा ओसारे के सामने एक लकड़ी मे खुदी रहती थी। मूर्ति ३ फुट ऊँची होती थी। इसके हाथ मे एक सोने की थैली होती थी। प्रतिमा की आकृति एक छोटी-सी कुर्सी पर बैठी हुई थी। दोनों पैर नीचे लटकते होते थे। इस प्रतिमा पर नित्य तेल पोता जाता, जिससे प्रतिमा का मुख काला चमकदार हो जाता था। इस काले देवता को महाकाल भी कहते थे। लोगों का विश्वास था कि महाकाल में साफल्य देने की अद्भुत शक्ति है। भोजन के समय पाकशाला मे काम करनेवाले नित्य उसे धूप-दीप दिखाते और भोजन की सभी सामग्री नैवेद्य-रूप मे अर्पित करते थे। महाकाल के विषय मे यह किवदन्ती थी कि वह स्वर्ग में रहनेवाले महेश्वर के गणो मे से है। इ-त्सिंग जब कुशीनगरान्तर्गत मुकुटबन्धन के विहार[1] में गया, तो वहाँ वह महाकाल की प्रतिमा के सामने प्रचुर परिमाण मे भोजन का नैवेद्य देखकर चकित हो गया। कारण पूछने पर यह कहानी सुनाई गई—"बहुत दिन हुए, एक दिन दोपहर को. इस विहार मे पाँच सौ भिक्षु आ पहुँचे।

१ इ-त्सिग ने इस पन्दन विहार लिखा है; किन्तु साथ ही बुद्ध के महानिर्वाण-प्रचार का भी उल्लेख आया है। और महापरिनिव्वान-सुत्त के पाठ से भी यह उपर्युक्त विहार मालूम होता है।

—'इ-त्सिंग की भारतयात्रा'।

उनके लिए ठीक समय पर भोजन तैयार करना असंभव-सा प्रतीत होता था। सभी चिन्ता में पड़ गये। उनकी चिन्ता देखकर विहार के एक भृत्य की माता ने कहा—'घबराने की कोई बात नहीं है।' और वह शीघ्र धूप-दीप जला तथा नैवेद्य चढ़ाकर प्रार्थना करने लगी—'यद्यपि महामुनि का निवारण हो चुका है, फिर भी आपसे हमें सदैव आशा रहती है। इस पवित्र स्थान की पूजा के लिए कहाँ-कहाँ के पूज्य भिक्षु पधारे हैं। आपकी सामर्थ्य अपार है। हम सब की प्रतिष्ठा और लज्जा का निवारण आप के ही हाथ है। आज हमारी पत रखले।' महाकाल के भरोसे ही सब भिक्षु बैठा दिये गये। जो भोजन केवल विहार मे रहनेवाले भिक्षुओं के लिए बना था, परोसने पर वह उस भारी भिक्षु-समूह के लिए पर्याप्त निकला। कुछ भोजन बच भी रहा। उसी दिन से यहाँ महाकाल की पूजा विधिपूर्वक की जाती है, और प्रचुर भोजन नैवेद्य-रूप मे चढ़ाया जाता है। भिक्षुओं के कथनानुसार महाकाल को त्रिरत्न से प्रेम था और वह भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षमाणा, श्रमणेर, श्रमणेरी प्रभृति पाँच परिषदों की रक्षा करता था।

महामुचिलिन्द की प्रतिमा में भी यही अलौकिक शक्ति पाई जाती थी। गया के निकटवाले महाबोधि-विहार-स्थित मुचिलिन्द की प्रतिमा में विशेष शक्ति समझी जाती थी।

नियमित समय पर कार्य करने के लिए बड़े-बड़े विहारों में जल-घड़ियों का प्रबन्ध रहता था। एक ताँबे के बर्त्तन में जल भर दिया जाता और उसमें एक ताँबे का ही पतला प्याला तैरता रहता था। प्याले की पेंदी मे एक महीन छेद रहता था, जिससे पानी आकर ठीक चौथाई पहर के समय मे प्याले को भरकर डुबो देता था। प्रातःकाल से आरम्भ करके, प्याले के पहली बार डूबने पर डंके पर एक बार, दूसरी बार मे दो बार और तीसरी बार में तीन बार चोट पहुँचाई जाती थी। चौथी डुबकी में डंके की चार चोट और दो बार शंख फूँककर अन्त में डंके पर एक चोट और दी जाती थी। यह प्रथम प्रहर का समय होता था। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे प्रहर में बारी-बारी से डंके की चोट देते और शंख बजाते थे। इस काम के लिए कुछ लड़के नियुक्त थे। रात में भी इसी तरह होता था।

नालन्दा-विहार में सूर्यास्त और सूर्योदय के समय द्वार के बाहर डंका बजाया जाता था। यह काम सेवक और द्वारपाल करते थे। शेष समय में नियत किया हुआ कर्मदान[1] डंका बजाया करता था। रात का पहला

१ जो भिक्षु घंटा बजाकर किसी पूजा प्रक्रिया आदि की घोषणा और भोजन का प्रबन्ध करता, उसे कर्मदान कहते थे। इ-त्सिग अपनी 'भारत में चीनी यात्रियो के वृत्तान्त'

पहर बीतने पर वह विहार की अट्टालिका पर चढ़कर डंका बजाता था।

महाबोधि और कुशीनगर की जल-घड़ियों की व्यवस्था कुछ भिन्न थी। वहाँ सवेरे से दोपहर तक सोलह बार डंके बजाये जाते थे।

इन जल घड़ियों के प्रबन्ध से बड़ी सुविधा होती थी। घने बादलों और अँधेरे दिन में भी अश्व समय (दोपहर) के विषय में कभी भूल न हो पाती थी।

७—भिक्षु और भिक्षुणी

घरेलू झंझटों से अलग होकर विहार मे सुख और विलास-मय अकर्मण्य जीवन बिताना भिक्षु और भिक्षुणियो का उद्देश्य नहीं था। संसार के हित-साधन मे चौबीसो घंटे लगे रहना—उसी में अपना जीवन उत्सर्ग कर देना—ही उनका एक मात्र ध्येय था। जनता को शिक्षित करना, उन्हें सन्मार्ग पर लाना और अपने को भीतर-बाहर स्वच्छ रखकर पीड़ितों की सेवा करना उनके दल—संघ—

नामक पुस्तक मे लिखता है—"जो विहार बनवाता है उसे 'विहार-स्वामिन', रखवाले को 'द्वारपाल', संघ के कामो की घोषणा करनेवाले को 'विहारपाल' और घटा बजाने तथा अपने तत्त्वावधान मे भोजन तैयार करानेवाले को 'कर्मदान" कहते हैं।

का धर्म था। इसी अमूल्य जीवन-यापन-द्वारा संघ ने त्रिरत्न में स्थान पाया था। शिक्षा का प्रधान भार तो इन्हीं को सौंपा गया था।

यदि कोई व्यक्ति—स्त्री या पुरुष—भिक्षु मार्ग का आलम्बन करके संघ में प्रवेश करना चाहता, तो पहले विहार के आचार्य के नेतृत्व मे उसके वास्तविक उद्देश्य की परीक्षा ली जाती थी। देखा जाता था कि कभी इसने पितृ-हत्या, मातृ-हत्या या इसी तरह का अन्य घोर दुष्कर्म तो नहीं किया है। यदि इस परीक्षा मे वह सफल हो जाता, तो आचार्य की आज्ञा से भिक्षु असिधारा-व्रत लेता था। विहार के सभी भिक्षुओं के सामने उसे उपसम्पदा[1] लेनी होती थी। उपसम्पदा के बहुत-से नियम थे और यह विधिपूर्वक ली जाती थी।

स्वीकृत-प्राप्ति व्यक्ति को पहले विहार मे दस दिनों तक स्वतन्त्र होकर रहने देते थे। फिर आचार्य उसे बुद्ध के पाँच प्रमुख उपदेशों—हत्या, चोरी, मिथ्या, व्यभिचार और मादक द्रव्यों के निषेध—की शिक्षा देता था। इनकी शिक्षा पूर्ण हो जाने पर वह उपासक कहलाता था। यदि इनमें से कोई पदाभिलाषी होना चाहता, तो वह एक पट, एक संकक्षिका, एक निवासन[2] एक भिक्षा-पात्र और एक

१ प्रव्रज्या मूलार्थतः।

२ भिक्षुओं के वस्त्र-विशेष। इनका विवरण पीछे आया है।

चलनी लेकर संघ के सामने पदाभिलाषी भिक्षु बनने की इच्छा प्रकट करता था। संघ की स्वीकृति मिल जाने पर वह आचार्य की आज्ञा से किसी एकान्त स्थान मे नापित से मुंडन करवाता और ऋतु के अनुसार गर्म या ठंडे जल से स्नान करता था। इस समय उपाध्याय यह परीक्षा लेता कि वह व्यक्ति नपुंसक तो नहीं है। फिर उस पर निवासन रख देता और बारी-बारी से उसे उत्तरीय वस्त्र कंचुकी आदि देता। उन्हें वह अपने सिर से लगाकर ग्रहण करता। इस प्रकार उपसम्पदा मिल जाने पर वह प्रव्रजित कहलाता था। फिर उपाध्याय के सामने आचार्य उसे दस शिक्षापद का पाठ पढ़ाता था। इन शिक्षापदों को सीख लेने के बाद वह भिक्षु श्रमणेर[1] कहलाता था। श्रमणेर और प्रव्रजित भिक्षु-भिक्षुणियों को बारह नियम विधिपूर्वक पालन करने होते थे—१. वे विधि-विहित और विधि-विरुद्ध परिधानों में भेद करते थे; २. कपड़े के बिना कभी न सोते थे; ३. अग्नि-स्पर्श कभी न करते थे; ४. किसी भी प्राणी को किसी तरह की क्षति न पहुँचाते थे; ५. आवश्यकता से अधिक भोजन नहीं करते थे, ६. हरी-घास पर मैल कभी न फेकते थे; ७. आवश्यकता न रहने पर प्रमाद से ऊँचे वृक्ष पर चढने का निषेध; ८. रत्नाभरण का स्पर्श भी न

१ श्रमणेर का अर्थ है—विश्राम ढूंढनेवाला; अर्थात्—निर्वाण—पूर्ण विश्राम—चाहनेवाला।

करते थे ; ९. उच्छिष्ट-पान नहीं करते थे ; १० भूमि का कुरेदना अनुचित समझा जाता था ; ११. दिये हुए भोजन या परोसी हुई थाली को अस्वीकार नहीं करते थे ; १२. कोंपलों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचाते थे। उपर्युक्त ८ से १२ तक की बातो का पालन शिक्षमाणा (भिक्षुणी) के लिए अत्यन्त आवश्यक था।

अनुष्ठान के अनुक्रम से संघ के भिक्षु-भिक्षुणियों की कई श्रेणियाँ थीं। उपसम्पदा के पूर्व की स्थिति में भिक्षु उपासक कहलाता था। उपसम्पदा लेने पर वही प्रव्रजित कहलाता था। दहर अथवा लघु उपाध्याय भी उन्हें कहते थे। नियम-पूर्वक दस वर्ष पूरे होने पर वह स्थविर कहलाता था। स्थविर का अर्थ है—अचल स्थिति। वह किसी शिक्षक के नियंत्रण मे न रहकर भी स्थिर-मति होकर रह सकता था। स्थविर की उन्नत अवस्था पा जाने पर उसे उपाध्याय—शिक्षक—की उपाधि दी जाती थी। जो उपाध्याय अथवा स्थविर धार्मिक और सांसारिक—आध्यात्मिक और भौतिक—दोनों विषयों के विद्वान् होते, वे बहुश्रुत कहलाते थे और सर्वत्र उनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती थी।

जो पहले पहल उपाध्याय बनता था, उसके लिए स्थविर होना—स्थिर मति होना—आवश्यक था। बिना स्थिरता के वह उपाध्याय नहीं हो सकता था। उन्हें नियमबद्ध होकर पूरे दस वर्ष तक वस्स (वर्षा-ऋतु का

चातुर्मास्य एकान्त-वास) करना पड़ता था। उन्हें भगवान् बुद्ध के उपदिष्ट दस शीलों[1] का पूर्ण रूप से पालन करना पड़ता था। उपाध्याय की योग्यता रखते हुए जो अपने को उपाध्याय कहने-कहलाने मे हिचकते, वे उसी प्रकार दोषी समझे जाते थे, जो गुणहीन होते हुए अपने को उपाध्याय और आचार्य कहते थे।

उपाध्याय के विद्यार्थी भी उपसम्पदा ले सकते थे; किन्तु बीस वर्ष से कम की अवस्था में नहीं।

कोई भी भिक्षु-भिक्षुणी अनुशासन की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। यदि वे ऐसा करते, तो संघ उन्हे अपराधी समझकर निकाल बाहर करता था। वे अपने से बड़ों का बड़ा सम्मान करते थे। रुग्णा-वस्था को छोड़ वे आचार्यों अथवा अन्य बड़ो के सामने खड़ाऊँ-जूते का व्यवहार कभी न करते थे। सदा

१ बौद्ध-शास्त्रो मे दस शील कहे गये हैं — हिंसा, स्त्येन, व्यभिचार, मिथ्या भाषण, प्रमाद, अपराह्न (अथवा उच्छिष्ट) भोजन, नृत्य-गीतादि, माला गंधादि, उच्चासन-शय्या और द्रव्य-संग्रह इन सब का त्याग। कहीं-कहीं पंचशील ही कहे गये हैं। यह शील छः या दस पारमिताओं मे से एक है और तीन प्रकार का कहा गया है —संभार, कुशल संग्राह और सत्वार्थ-क्रिया।

—हिन्दी-शब्द-सागर।

नंगे पाँव रहने की प्रथा थी। शीतकाल में अथवा बड़ों की आज्ञा से खड़ाऊँ आदि पहन सकते थे। बड़ों के सामने दक्षिण स्कन्ध नग्न और वाम स्कन्ध कंचुक से ढँके रखते थे। ऊँचे पलंग पर कभी न बैठते थे। भिक्षु पालकी पर चढ़ते थे ; किन्तु घोड़े पर नहीं चढ़ सकते थे।

पग-पग पर नियम बने थे और उन्हें उन नियमों पर ही पैर रखकर चलना पड़ता था। स्वच्छ और पवित्र होकर रहने के लिए बड़े कठिन नियम थे। खान-पान, रहन-सहन, सब में—भीतर-बाहर—पवित्र रहना पड़ता था। नियम-पूर्वक बाह्य जाना, दातुन-द्वारा दाँतो का साफ करना, स्नान करना, जल पीना, भोजन करना, सबका विस्तृत विधान था और प्रतिदिन उन विधानो पर चलना पड़ता था। प्रतिदिन जल की परीक्षा करके—कि कहीं उसमें कीड़े तो नहीं हैं—उसे व्यवहार में लाते थे। भोजन-वस्त्र की स्वच्छता पर भी बड़ा ध्यान दिया जाता था। पवित्रता और जीव-रक्षा को ही वे अपना सबसे बड़ा मार्ग-दर्शक-समझते थे।

समय की बड़ी पाबन्दी थी। सूर्य जब तक माथे पर न आ जाता, तब तक न खाते थे। इसके बाद भी खाना मना था। इसी प्रकार सोना, उठना, स्नान, पूजापाठ आदि भी समय पर ही किये जाते थे।

इनके वस्त्र विशेष आकार-प्रकार के होते थे। रेशम के वस्त्र भी वे पहनते थे। यद्यपि इस वस्त्र के पहनने से जीव-

हिंसा होती थी ; किन्तु जिस प्रकार अपने निमित्त नहीं मारे गये पशु-पक्षी के मांस को खाने मे वे पाप नहीं समझते थे, उसी प्रकार रेशम के कपड़े—जो उनके निमित्त कातकर नहीं बुने होते—पहनने मे दोष नहीं समझते थे। उनके सब वस्त्र कण्ड नामक एक पीले रंग से रँग दिये जाते थे। यह एक वृक्ष की छाल का चूर्ण होता था। इस रंग मे लाल मिट्टी और लाल पत्थर का चूर्ण भी मिला देते थे। रग बहुत हलका या गाढ़ा नहीं बनाया जाता था।

बैठने, सोने, पहनने आदि के लिए तथा दूसरे-दूसरे प्रयोगो के लिए छः परिष्कार (द्रव्य)[1] पात्र,

१ इसी की व्याख्या करके महाव्युत्पत्ति मे तेरह अप निहार्य वस्तुओ का उल्लेख है—१. संघाटी (दुहरा कचुक), २. उत्तरासंङ्ग (ऊपर का परिच्छद—चादर आदि), ३. अन्तर्वास (भीतर का परिच्छद), ४. निषीदन (बैठने अथवा लेटने की चटाई), ५. निवासन (एक अन्तरीय वस्त्र), ६. प्रति निवासन (एक दूसरा निवासन), ७. संकक्षिका (कुक्षि ढाँकने का वस्त्र), ८. प्रति-संङ्कक्षिका (एक दूसरी संकक्षिका), ९. काय-प्रोङ्छन (अंगोछा), १०. मुख-प्रोङ्छन (मुँह पोछने का तौलिया), ११. केश-प्रतिग्रह (हजामत के केश डालने का कपडा), १२. कंडुप्रतिच्छादन (खुजली ढाँकने का वस्त्र) और १३. भेषज परिष्कार चीवर (आवश्यकता पडने पर औषधियो का मूल्य देने के लिए रखा हुआ वस्त्र।

चीवर, पेटी, उस्तरा, सुई और जल-चलनी सदैव साथ रखने का कड़ा विधान था। इन वस्त्रों के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं रखते थे। औषधि के लिए जो कपड़ा रहता था, वह बीस फीट लम्बा अथवा रेशम का एक पूरा थान रहता था।

भिक्षुणियों के लिए पाँच प्रधान वस्त्र थे—संघाटी, उत्तरासंग, अन्तर्वास, संकक्षिका और साया। प्रथम चार वस्त्र पुरुष के ही समान होते थे। कुसूलक अथवा साया पुरुष के पहनावे से भिन्न होता था। कुसूलक लँहगे के समान होता था। इसकी लम्बाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ की होती थी। यह नाभी से लेकर नीचे गुल्फ से चार अंगुल ऊपर तक रहता था। ऊपरी सिरे मे सरकने वाली एक चोटी लगी रहती थी, जो कटि से सिकोड़-कर पीठ की तरफ बाँध दी जाती थी। भिक्षुणी की छाती अथवा कुक्षि में कोई बन्धन अथवा वस्त्र नहीं रहते थे। हाँ, जब युवावस्था के कारण छातियों पर उभार आ जाता और वे बहुत ऊँची उठ जातीं या बढ़कर लम्बी हो जातीं, तब कपड़े का प्रयोग किया जा सकता था। नग्नवत् होकर लज्जा से यदि कोई भिक्षुणी पुरुष के सामने न जाती और अपने को शृंगार-द्वारा सजाती, तो यह उसकी भारी भूल मानी जाती और वह पाप की भागी समझी जाती थी। पुरुष के सामने अथवा घर से

बाहर होते समय वह काषाय वस्त्र कंठ में कुछ लपेट लेती थी। खाने के समय छाती खुली नहीं रक्खी जाती थी।

भिक्षुणी मठ मे अकेली नहीं रह सकती थी ; उसके साथ कुछ भिक्षुणियो का रहना अनिवार्य था। भिक्षु-संघ की आज्ञा के बिना वह किसी भिक्षु से मिल नहीं सकती थी। रहने के लिए भी भिक्षु-भिक्षुणियों की अलग-अलग कोठरियाँ होती थीं। भिक्षु अथवा भिक्षुणी को एक दूसरे से मिलना जब अत्यन्त आवश्यक हो पड़ता, तब मठ के दालान में बात-चीत हो सकती थी। भिक्षुणी वहाँ भी अकेली न रहती थी। यदि भिक्षुणी कहीं सेवा करने के लिए बाहर जाना चाहती, तो अकेली नहीं, पाँच-छः भिक्षुणियों का दल बनाकर चलती थी। इ-त्सिग लिखता है—"एक दिन एक छोटे उपाध्याय ने (जो अभी स्थविर नहीं हुआ था) एक लड़के के हाथ एक स्त्री के पास कुछ चावल भेज दिये। संघ को इस बात का पता लगा। बात की जाँच की गई। उस व्यक्ति ने सच्ची-सच्ची बातें कह दीं। यद्यपि वह निर्दोष था, फिर भी नियम के विपरीत चलने के कारण वह दोषी ठहराया गया। वह लज्जा से विहार छोड़कर चला गया और फिर वापस न आया। उसके वस्त्र उसके गुरु ने एक दूसरे व्यक्ति के हाथ भेज दिये।" यह उद्धरण बताता है कि वे नियम के कितने पाबन्द थे।

यदि किसी भिक्षुणी अथवा भिक्षु का मन कामा-

सक्त हो उठता, तो उसे कपड़े अधिक पहनने तथा घरेलू काम करने की मनाही थी। उपवास आदि करके मन को शुद्ध किया जाता था। इनका जीवन अत्यन्त सादा होता था। साज-शृङ्गार से कुछ प्रयोजन न था। भिक्षा माँगकर, सेवा करके अत्यन्त साधारण जीवन बना रखना होता था। भारतीय भिक्षुओं के सदाचार की प्रशंसा करते हुए इ-त्सिग लिखता है—"राहुलमित्र नाम का एक तीस वर्ष का नौजवान भिक्षु था। वह त्रिपिटक का पारदर्शी पंडित था। वह बड़ा सदाचारी, इन्द्रियजित् और संसार-वीत-रागी था। उसकी पूजा भिक्षु-शिरोमणि के रूप में होती थी। जब से उसने दीक्षा ली, तब से अपनी माँ और बहन को छोड़कर किसी दूसरी स्त्री का मुख तक न देखा था। यद्यपि ऐसा नियम नहीं था; पर वह कहता था—"पुण्यात्मा ने हमारे लिए स्त्रियों से बात-चीत करने का निषेध नहीं किया है, फिर भी खोटी वासना से बचने के लिए उन्हे दूर रखना ही ठीक है।"

वे दस शील[1], चार शरण[2], चार कर्म[3] और तेरह

१. दस शील का विवरण पीछे आया है।

२. चार शरण 'पांसुकूलिकांग', 'पैण्डपातिकाग', 'वृक्षमूलि-कांग' और पूतिमूत्रभैषज्य हैं।

३. झूठे कलंक के बदले झूठा कलंक न लगाना, क्रोध का

धूतांगों[1] का अनुष्ठान और इनके अनुशीलन में सदैव लगे रहते थे। जो इनमे पूर्ण सफल होते थे, वे श्रेष्ठ क्षमतावान् और निर्वाण के अधिकारी समझे जाते थे।

वर्ष (वस्स) का चातुर्मास्य एकान्त-वास भिक्षुओं के लिए विहित था; परन्तु इसके लिए कोई बन्धन नहीं था। वे इसके लिए पदच्युत नहीं किये जाते थे। इसके न करने से उनकी कुछ अपनी ही हानि होती थी। प्रवास की स्वतन्त्रता और सुख का अनुभव वे नहीं पाते थे; किन्तु यदि कोई एकान्तवासी भिक्षु कहीं बाहर का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते, तो वे अपराधी ठहराये जाते थे और यह अपराध चोरी के अपराध से कम न होता था। एकान्तवास के समाप्त होने पर प्रवारण-दिवस में भिक्षु लोग सोत्साह काम करते थे। प्रत्येक विहार में इस पर्व की महाप्रक्रिया की जाती थी। एकान्तवास के समय यदि किसी भिक्षु को कहीं जाने की अत्यन्त आवश्यकता हो जाती, तो उसे छुट्टी लेकर जाना होता था। चालीस रात से अधिक की छुट्टी नहीं ली जा सकती थी। बीच-बीच में कई बार छुट्टी ले सकते थे। यदि किन्हीं

बदला क्रोध से न लेना, तिरस्कार का उत्तर तिरस्कार से न देना और चोट के बदले चोट न पहुँचाना, इन्हीं चार कर्मों का विवरण मूलसर्वास्तिवादैकंशतकर्मन में आया है।

१. तेरह धूतांगों का विवरण पीछे देखिए।

रोगी और पीड़ितों की सेवा की जरूरत आ पड़ती, तो उस समय चालीस रात से अधिक लग जाने और छुट्टी न होने पर भी एकान्त-वास नहीं टूटता था।

भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिए अपने से बड़ों को प्रणाम करने का समय और अवस्था निश्चित् थी। नियम-विरुद्ध न तो कोई प्रणाम करते और न कोई स्वीकार ही करते थे। दवा या कोई वस्तु खाते समय, दातुन करते समय, वाह्य से आते-जाते समय, स्नान करते समय और उपवास मे प्रणाम करने का विधान नहीं था। ये केवल सम्मानार्थ बड़ों के सामने हाथ जोड़ लेते थे।

भिक्षुओं के बैठने और सोने का निषीदन (सेज झालरदार और चार फ़ीट पाँच इंच लम्बा और तीन फ़ीट पौने चार इंच चौड़ा होता था। बालिश (तकिया) सन, ऊन, कपास, कोमल पत्तियों आदि का बनाते थे। प्रत्येक कोठरी में एक या दो भिक्षु से अधिक नहीं रहते थे। कोठरी में सभी भिक्षु एक सुन्दर प्रतिमा रखते थे, जिसको सवेरे स्नान कराते और पुष्प चढ़ाते थे। खाने के समय उसे पटुए के कपड़े से ढँक देते थे। धर्म-ग्रन्थों को भी साथ रखते और अध्ययन करते थे। समय पर सोते और समय पर उठ जाते थे।

भिक्षु और भिक्षुणी दोनों प्रतिदिन नियमित रूप से व्यायाम करते थे। न करने से डरते थे कि कहीं

कोई रोग न हो जाय, पेट न निकल जाय और शरीर बेढंगा न हो जाय।

उनके लिए त्रिरत्न की पूजा से बढ़कर दूसरा कोई भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं था; किन्तु अज्ञान और आध्यात्मिकता को न समझनेवाले भिक्षु बुद्ध की प्रतिमा रखते और बड़ी श्रद्धा से पूजा करते थे। नित्य स्नान करा, मूर्त्ति को चन्दन-चर्चित करके धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाते थे। इसे अपने निर्वाण और पाप-मुक्त होने का मार्ग समझते थे। जिस जल मे मूर्ति को स्नान कराया जाता था, वह शुभ शकुन का जल' कहलाता था और उसे लोग दो उंगलियों से लेकर माथे पर रखते थे। विहार के बाहर गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी इसे माथे चढ़ाते और अपने सौभाग्य की परिवृद्धि की कामना करते थे। प्रतिमा पर चढ़ाये हुए पुष्प को सूँघते नहीं थे। पैरों से कुचलना या इधर-उधर फेंक देना मना था। कभी पूजा करने में आलस्य नहीं दिखाते थे। जिनके पास ताँबे की प्रतिमा न होती, वे कागज या रेशम के कपड़े पर चित्र बनाकर (कसीदा काढ़कर) पूजते थे।

विहार मे भिक्षु-वर्ग दिन के तीसरे प्रहर मे चैत्य (मूर्त्ति) वन्दन करते थे। चैत्य के सामने सब घुटने के बल बैठ जाते और उनमें एक गानेवाला मीठे स्वर से भगवान् बुद्ध के गुणों का गान करता था। पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य चढ़ाते और मूर्त्ति की तीन बार प्रदक्षिणा

करते थे। फिर एक सिंहासन प्रधान भिक्षु के सामने रक्खा जाता और एक व्यक्ति उस पर चढ़कर कुछ सूत्र-पाठ करता था। इसके बाद धर्म-ग्रन्थों का पाठ और त्रिरत्न की स्तुति की जाती थी। सूत्रपाठी के सिंहासन से उतर आने पर प्रधान भिक्षु सिंहासन को प्रणाम करता था। पीछे अन्य भिक्षु भी सिंहासन और प्रधान को प्रणाम करके अपने-अपने स्थान को चले जाते थे।

विहार में रहनेवाले भिक्षु-भिक्षुणियों की सम्पत्ति तथा बाहर से मिली रकम किसी व्यक्ति की नहीं, सब संघ की होती थी। यदि कोई भिक्षु मर जाता, तो उसकी सभी चीजे संघ की हो जाती थीं। भूमि, घर, ग्राम वाटिका आदि स्थावर सम्पत्ति भिक्षुओं मे नहीं बाँटी जाती थी। चल-सम्पत्ति में भी सोना, चाँदी आदि बहु-मूल्य वस्तुएँ भिक्षुओं को न देकर संघ के कोषागार में रख दी जाती थीं। शेष प्रयोग की वस्तु भिक्षुओं मे बरा-बर-बराबर बाँट दी जाती थीं। यदि किसी भिक्षु अथवा किसी भक्तजन (जिसके कोई उत्तराधिकारी न हों) की मृत्यु हो जाती और उनके पास हाथी-घोड़े, सवारी, अस्त्र-शस्त्र आदि होते, तो वे सब राज-परिवार को दे देने पड़ते थे। साँढ़ आदि समाज का होता था।

शरीर को कष्ट देना, उँगली जलाना और शरीर को जलाकर आत्म-हत्या कर लेना महान् पाप समझा जाता था। धर्मानुष्ठान मे ही शरीर नष्ट हो, इसे वे बुद्धत्व की

प्राप्ति समझते थे; किन्तु बुद्ध के इस उपदेश की तह तक न पहुँचकर कई मूर्ख भिक्षु गंगा नदी मे डूबकर मर जाते, बुद्ध गया के पर्वत पर से लुढ़ककर प्राण खो बैठते और कितने ही शरीर जलाकर नष्ट हो जाते थे। इस आत्म-हत्या में वे अपनी निर्वाण-प्राप्ति समझते थे।

जब विहार का कोई भिक्षु मर जाता और दूसरे ठीक तरह उसकी मृत्यु की परीक्षा कर लेते, तब शव को अर्थी पर श्मशान-घाट ले जाकर जला देते थे। शव के जलते समय सब भिक्षु एक ऊँचे टीले पर बैठते और उनमें से एक संसार की अनित्यता का सूत्र पढ़कर सबको सुनाता था। शव के जल जाने पर मिथ्या संसार को स्मरण करते हुए, सब विहार के बाहर नदी या तालाब मे स्नान कर सूखे वस्त्र पहनते और अपने वासस्थान पर आते थे।

मृतक भिक्षु के नाम पर एक स्तूप—जो कुल कहलाता था—बना देते थे। ये कुल साधारण और उच्च लोगो की स्थिति के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते थे।

८—विहार के गुरु और विद्यार्थी

विहारों में बड़े-बड़े विद्वान् भिक्षुओं और विद्यार्थियों के रहने और अध्ययन-अध्यापन करने का बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध था। गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ था। विद्यार्थियों को किसी तरह की चिन्ता न सताती थी। निश्चिन्त होकर केवल अध्ययन करना ही उनका

एक-मात्र धर्म और उद्देश्य था। विहार में उनके लिए स्वतन्त्र रहन-सहन और अध्ययन के नियम बने थे। सब कामों के लिए समय निर्धारित थे।

सब प्रकार से गुरु की सेवा करना शिष्य का धर्म था और गुरु अपने अभ्युदय के लिए अध्यापन-कार्य सबसे महत्त्व का समझता था।

प्रतिदिन ब्राह्मवेला में सभी छात्र शय्या त्याग कर प्रातःकालीन नित्यकर्म—बाह्य, दातुन और स्नान—से निबटकर गुरु के पास आते, दातुन देते और चिलमची तथा काय और मुख प्रोञ्छन (तौलिया) निश्चित स्थान पर रखकर प्रतिमा-पूजन को चले जाते थे। प्रतिमा-पूजन और मन्दिर-परिक्रमा के पश्चात् गुरु के पास आते, अपने चोले को ऊपर उठा, हाथ जोड़, सिर को भूमि से लगा, घुटनों के बल झुक, तीन बार दण्डवत् करते और सिर झुकाये हुए पूछते थे—"मेरे श्रद्धेय उपाध्याय, मैं जो पूछता हूँ, कृपया उस पर ध्यान दें। रात-भर अच्छे रहे हैं? कोई कष्ट तो नहीं हुआ? शरीर तो स्वस्थ है? मन विशुद्ध और प्रसन्न है? आमाशय ठीक है और सवेरे का भोजन तो करेंगे?" गुरु से जब इन प्रश्नों का उत्तर मिल जाता, तब विद्यार्थी विहार के और-और गुरुजनों को जाकर प्रणाम कर आते। फिर गुरु के सम्मुख बैठकर धर्म-ग्रन्थ के कुछ भाग पढ़ते और अधीत पाठों पर विचार करते थे। जब भोजन का समय हो जाता, गुरु

की आज्ञा से वे पुस्तकें सँभालकर उठते और भोजन करने चले जाते थे। बुद्ध की कही चार बातों—सूर्योदय से पूर्व न खाने, उपाध्याय की आज्ञा के बिना भोजन न करने अथवा कहीं दूसरी जगह न जाने, नित्य दातुन, स्नान और पूजा आदि से मन और शरीर को शुद्ध और प्रसन्न रखने, प्रातःकाल जल की परीक्षा करके उसका प्रयोग करने—का किसी भी अवस्था में उल्लंघन नहीं करते थे। जब तक विद्यार्थी विनय को भलीभाँति न समझ लेते थे, तब तक उन्हें अपने गुरु के नियंत्रण में बराबर रहना पड़ता था। यदि उपाध्याय न रहता, तो किसी दूसरे उपाध्याय के नियंत्रण में रहते थे। विनय को समझ लेने के बाद, वे स्वतंत्र कर दिये जाते थे। अनियंत्रित रहने से भविष्य का जीवन संयत नहीं होता था; इसलिए इन नियमों का रहना आवश्यक समझा जाता था।

विद्यार्थी रात के प्रथम और अन्तिम प्रहर में उपाध्याय के पास जाते थे। उपाध्याय उन्हें आराम से बैठ जाने की आज्ञा देता और उनके बैठ जाने पर अवस्था-भेद के अनुसार त्रिपिटकों के कुछ चुने हुए उपदेश सुनाता था। किसी भी बात अथवा सिद्धान्त की, बिना पूरी तरह व्याख्या किये और समझाये, विद्यार्थियों को जाने की आज्ञा न देता था। विद्यार्थी एक क्षण भी व्यर्थ का जीवन व्यतीत न करते थे।

गुरु का नियंत्रण भी वात्सल्यपूर्ण होता था। वह अपने विद्यार्थियों को हृदय से प्यार करता था। वह सदैव उनके नैतिक आचरण की देखभाल करता रहता था। यदि उनमें कुछ दोष आते, उनसे कुछ भूल हो जाती, तो गुरु उन्हें चेतावनी दे देता, जिससे वे सँभल जाते थे। उन्हें अपराधी पाकर वह उनका अपराध दिखाता और उन्हें पश्चात्ताप करने को विवश करता था। उनके रुग्ण होने की अवस्था मे वह अपने हाथो सेवा-सुश्रूषा करता था; शरीर मल देता, दवा लाकर खिलाता और उनके मल-मूत्र उठाकर फेंकता था। अपने पुत्र की तरह वह सदैव उनके ऊपर ध्यान रखता था।

९—उस समय के भारत के प्रमुख विश्व-विद्यालय

इ-त्सिग के समय में ताम्रलिप्त, नालन्दा, उज्जैन, तक्षशिला, विक्रमशिला आदि भारत के प्रमुख विश्व-विद्यालय थे। सभी विश्व-विद्यालयों की शिक्षा एक ढंग की नहीं थी। काशी-विश्व-विद्यालय मे ब्राह्मण-धर्म-शास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। उज्जैन विश्व-विद्यालय ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा का केन्द्र था। विक्रमशिला में बौद्ध-धर्म के तंत्र-शास्त्र की शिक्षा मिलती थी। तक्षशिला में वैद्यक और राजनीति की शिक्षा दी जाती थी। ताम्र-लिप्ति का विश्व-विद्यालय अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा का केन्द्र था।

कोई भी विदेशी पहले ताम्रलिप्ति में ही शिक्षा पाता था। नालन्दा का विश्व-विद्यालय भारत का सर्वश्रेष्ठ शिक्षा-केन्द्र था। यहाँ प्रचलित सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। जो विदेशी इसमें पढ़ने आना चाहते, वे सीधे यहाँ नहीं आ सकते थे; पहले उन्हें कुछ दिनों ताम्र-लिप्ति मे पढ़ना होता था। नालन्दा-विश्व-विद्यालय के प्रमुख द्वार पर सब विषयों का पारदर्शी विद्वान् प्रमुख द्वारपाल का काम करता था। कोई विद्यार्थी किसी विषय का पारंगत विद्वान् होने की इच्छा से वहाँ आता, तो पहले इसी द्वारपाल से उसे सामना करना पड़ता था। द्वारपाल के तर्क-व्यूह से बाहर निकल जाने मे जब वह सफल हो जाता, तभी वह विश्व-विद्यालय मे प्रवेश कर पाता था।

सभी विद्यालयों के पुस्तकालयो मे असंख्य मूल्यवान् ग्रन्थ भरे पड़े थे। नालन्दा का ग्रन्थागार—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—लाखों अमूल्य ग्रन्थों का भण्डार था।

इन विश्व-विद्यालयों में सहस्रो विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा पाते थे। कोई चिन्ता नहीं रहती थी। घर-द्वार से स्वतन्त्र होकर, जब तक चाहें पढ़ सकते थे। किसी भी विश्व-विद्यालय का क्षेत्र संकुचित नहीं था। जो जिस विषय का अन्वेषक होता, वह वही पढ़ता था। वस्तुतः वे

विश्व-विद्यालय सभी प्रकार की शिक्षा-प्रणाली के आदर्श थे।

१०—तत्कालीन भारत की कला

इ-त्सिग के समय मे भारतीय-कला की क्या स्थिति थी, इसकी पूरी जानकारी प्राप्त करने के साधन नहीं हैं। इ-त्सिग ने कहीं-कहीं जो विवरण दिया है, उससे कला की एक अधूरी झाँकी हमें मिलती है। अजन्ता के विख्यात चित्रांकनों को अभी थोड़े ही दिन हुए थे। इ-त्सिग के समय में भी चित्रकला सामाजिक ज्ञान का अंग थी। इ-त्सिग ने लिखा है—'जिनके पास पूजा के लिए ताँबे की प्रतिमा न होती, वे कागज अथवा महीन रेशम के कपड़े पर बुद्ध का चित्र अंकित करके पूजते थे।' ऊन, रेशम, सूत, तीसी, और सन आदि से बहुत ही सुन्दर कपड़े तैयार, किये जाते थे। सोने आदि के आभूषण, द्रव्य और मिट्टी के बर्त्तन बड़े अच्छे ढंग से बनाये जाते थे। स्मिथ साहब के लेखानुसार नेपाल आदि मे लोहे के शस्त्र अच्छे बनते थे। वास्तुकला और शिल्पकला भी दक्षिण-भारत तक फैली थी। इन कलाओं के सीखने के लिए कोई स्थान-विशेष नहीं थे। सभी कलाएँ घरेलू हो रही थीं। यद्यपि इन सबको कला की दृष्टि से नहीं देखते थे, तथापि इन कलाओं पर कोई भी कलाकार मुग्ध हो सकता था।

११—राजनीतिक अवस्था

उस समय भारत की राजनीतिक परिस्थिति क्या थी, इसका हमारा ज्ञान बहुत ही अधूरा है। इ-त्सिग ने कहीं इसका जिक्र तक नहीं किया है। स्मिथ आदि इतिहास-लेखकों तक ने उस समय का पूरा पता नहीं पाया है। वस्तुतः उस समय का हमारा इतिहास विशृंखल हो उठता है।

६४७ ई० में हर्ष की मृत्यु और आठवीं शताब्दी में यशोवर्मन के प्रादुर्भाव के बीच का समय अत्यन्त ही अन्धकारावृत है। इस बीच मे सामन्तों का स्वाधीन होना लिखा है। तिब्बत के राजा 'स्रङ्-त्सान गैम्पो' ने मिथिला और नेपाल पर आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया था। स्मिथ साहब के लेखानुसार उसका शासन-काल ६२९—६५० ई० तक है। इस प्रकार यह आक्रमण इ-त्सिग के आने के पहले हुआ होगा; किन्तु इ-त्सिग के समय तक (७०३ ई० तक) मिथिला आदि प्रान्त तिब्बत के राजा के अधीन रहे। स्रङ्-त्सान गैम्पो ने ६४१ ई० मे चीन और नेपाल की राजकुमारियों से शादी की थी। ७०३ ई० में उत्तर-भारत से किसी बौद्ध राजा ने तिब्बत के राजा को हराकर वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था और तभी से दालाई लामा का शासन चला। गुप्तवंशीय आदित्यसेन के मगध में और चतुर्थ धरसेन के

वल्लभी में अश्वमेध यज्ञ करके स्वाधीन होने का भी पता लगता है। इस समय अरब आदि विदेशियों के भी आक्रमण हुए थे। हो सकता है ये घटनाएँ इ-त्सिग की उपस्थिति मे ही हुई हों। इस समय कोई पराक्रमी और देश को सँभालनेवाला राजा नहीं रह गया था। सभी कमजोर पड़ गये थे। जो जिसको पाता, दबाकर राजा बन बैठता था। सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। देश की राजनैतिक परिस्थिति बड़ी नाजुक थी। राजा लोग बराबर आपस में झगड़ते रहते थे; इससे देश मे और भी कमजोरी आती जाती थी।

उस समय राजपूत नामक एक नई जाति बन रही थी। स्मिथ साहब ने इन्हे क्षत्रिय-वंशज नहीं माना है। गुर्जर, हूण, जाट आदि जातियों का उत्थान भी इसी समय हुआ था। दक्षिण-भारत में पाण्ड्य, चोल आदि राज्यों के होने का पता लगता है। राजनीतिक परिस्थित इतनी नाजुक होने पर भी समाज में एक दम शान्ति मालूम होती है।

यदि इ-त्सिग राजनीतिक अवस्था का कुछ भी विवरण लिख जाता, तो हमारा इतिहास विशृङ्खल न हो पाता।

१२—उपज और व्यापारिक अवस्था

इ-त्सिग ने भारत की उर्वर-भूमि की बड़ी प्रशंसा की है। वह लिखता है—"मगध, दक्षिणी सीमान्त प्रदेश तथा पूर्वी उपान्त्य प्रदेश मे गेहूँ की बहुत कमी; परन्तु धान (चावल) का आधिक्य है।" वस्तुतः मध्य-भारत की धान की खेती प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। शाक्य-वंश का राजा शुद्धोदन (शुद्ध चावल), जो कपिल-वस्तु मे आ बसा था, और उसके चारों भाइयो (धौतोदन, अशुक्लोदन, शुक्लोदन और अमितोदन) के नाम धान की खेती के परिचायक हैं[1]। इ-त्सिग ने गेहूँ और धान के अतिरिक्त यहाँ की उपज में मक्का, बाजरा, गन्ना, आलू, खतम्मी, रामतरोई, वनचिग (एक प्रकार का शलजम), सरसों, तीसी (तिलहन), नारंगी, नीबू आदि का उल्लेख किया है। कपास की खेती भी तो अवश्य होती रही होगी।

उस समय भारत का व्यापार जगत्-प्रसिद्ध था। भारतीय नाविक अपने यहाँ का सामान नावो तथा जहाजों पर लादकर जावा, सुमात्रा, सिकन्दरिया, मिश्र, अरब तथा भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों में ले जाते थे। अरब तथा भूमध्यसागर के नाविक भी यहाँ माल लेने और अपना माल बेचने आते थे। श्रीभोज (सुमात्रा) के

१ 'इ-त्सिग की भारत-यात्रा' की एक टिप्पणी से।

राजा के पास भी बड़े-बड़े जहाज व्यापार के लिए भारत आते थे। उस समय ताम्रलिप्ति शिक्षा-केन्द्र के साथ-साथ व्यापारिक केन्द्र भी था। इ-त्सिग ने लिखा है—"भारत में पहले चीनी, मिट्टी और लाख के बने बर्तन नहीं होते थे। पीछे सुमात्रा के व्यापारी लाकर बेचने लगे थे। इसे भारतीय लेते थे; किन्तु लाख के बर्तन में बहुत नहीं खाते थे।"

प्रत्यावर्त्तन

[४]

सन् ६८५ ई० में वह भारत से स्वदेश को लौट पड़ा। उस समय वह नालन्दा से कुछ (छः योजन) दूरी पर, जिसे वह 'वू-हिंग' लिखता है, ठहरा था। लौटने के पूर्व उसने नालन्दा के विशद ग्रन्थागार से बौद्ध-धर्म के ५ लाख बहुमूल्य श्लोकों के कोई चार सौ ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ तैयार कर ली थीं। वह उन्हें अपने साथ स्वदेश के लिए अमूल्य संदेश के रूप में लेता गया। उसी रास्ते से लौटा, जिससे गया था। ताम्रलिप्ति के रास्ते में उसे फिर भयंकर लुटेरों के एक दल से भेंट हो गई। उन सबने इस पर तलवार-बर्छों से आक्रमण किया। उसने अब समझ लिया कि जान गई। एक बार वह निराश हो उठा। उसे अपने जीवन के लिए पर्वाह नहीं थी। दस वर्षों तक कठिन परिश्रम से अध्ययन

कर तथा लिखकर जो चार सौ पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ स्वदेश की महान् सेवा के रूप में तैयार की थीं—जिनमे उसने अपना अब तक का जीवन बिताया था—जिनके लिए उसने सहस्रों कष्ट झेले थे—जिनकी खोज मे उसने बड़ी माथापच्ची की थी—वही हाथ मे लिया भोजन मुँह से छूट रहा था। वह अत्यन्त अधीर हो उठा। किन्तु, भगवान् की असीम कृपा! छूटे धैर्य की कातरता देखकर उन्होंने भक्त की पत—उसकी जीवन-संचित मनोकामना की रक्षा कर ली। वह किसी तरह बचकर वहाँ से सुरक्षित निकल आया।

ताम्रलिप्ति पहुँचकर भी वह डर के मारे निश्चिन्त न रहा। उसको विश्वास नहीं था कि इस सञ्चित अमूल्य विभव को स्वदेश ले जा सकेगा। सवेरे से साँझ तक ताम्रलिप्ति में रहकर वह जल-पोत से चल पड़ा। दो महीनो में वह क–च पहुँच गया। वह वहाँ उतर गया। वहाँ उसे उत्तर (तुखार) के एक मनुष्य से भेंट हुई। उस व्यक्ति ने उसे बतलाया—"उत्तर की ओर दो चीनी भिक्षु पर्यटन कर रहे हैं।" ये दोनो शायद इ-त्सिंग के मित्र 'हुङ्ग-ई' और 'ह्यू-येन-चन' थे, जो भारत की यात्रा को इ-त्सिग के साथ चले थे; पर इसी ह्यू-येन-चन के परामर्श से भारत जाना छोड़ सुखावती (स्याम का कोई स्थान)[1] की ओर मुड़ गये थे।

१ सुखावती के लिए पीछे की पाद-टिप्पणी देखें।

क–च में कुछ दिन रहकर इ-त्सिग एक महीने में घूमते-घामते भोज (मलय देश) पहुँचा।

एक दिन वह भोज नदी के मुहाने पर लगे जहाज पर कागज, रोशनाई और कुछ लेखकों की व्यवस्था के लिए (जो संस्कृत-ग्रन्थों के चीनी अनुवाद में सहायता कर सकें) गया। उसे अपने देश के अपने मित्रों के यहाँ अपना विश्वास-पत्र भेजना था; किन्तु भविष्य के एक क्षण में क्या-का-क्या हो जाता, यह कौन कहे! अभी जो मनुष्य किसी काम को करने के लिए तुला हुआ है, उसके छोड़ने अथवा उससे पिछड़ जाने की किञ्चिन्मात्र भी सम्भावना प्रतीत नहीं होती, उसका आमूल परिवर्त्तन भविष्य के किसी एक क्षण मे सन्निहित रहता है। जो समझता है—मेरे विचार कभी बदल नहीं सकते, बदलने की आशा भी नहीं रहती, वही क्षण-भर में अपने विचार को किसी दूसरे ही रूप में बदल डालता है। जिस समय वह जहाज पर पहुँचा, ठीक उसी समय व्यापारियों ने वायु को अनुकूल पाया और उन्होंने उसी क्षण जहाज के पाल को ऊँचा उठा दिया। जहाज उसकी चिट्ठी की पतीक्षा में ठहर नहीं सकता था। वह चल पड़ा। इ-त्सिग भी न उतर सका। विवश होकर—जैसे, जिस दशा में था—स्वदेश को लौट चला।

सन् ६८६ ई० मे (युङ्ग-चुङ्ग-काल के प्रथम वर्ष के सातवें मास मे बीसवें दिन) वह कङ्ग-तुङ्ग (Canton)

पहुँचा। वहाँ पुराने मित्र-सम्बन्धियो से—जो वर्षों से उसकी बाट जोह रहे थे—भेंट हुई। अकस्मात् उसे सकुशल अपने बीच लौट आया पाकर उन्हे बड़ा आनन्द हुआ; किन्तु इ-त्सिग के मुख पर वह प्रसन्नता नहीं थी, जो अनेक वर्षों के प्रवास के बाद स्वदेश के प्रत्यागमन और कुटुम्बियो-मित्रो को पाकर होनी चाहिए थी। उसकी सब-की-सब प्रतिलिपियाँ भोज मे ही छूट गई थीं और उसका मन उन्हीं में अटका था। स्वदेश-वासियों ने उसका अपूर्व सम्मान करके इसी सिलसिले मे 'चिह-चिह' के बौद्ध-मन्दिर में एक महती सभा का आयोजन किया। सभा मे भाषण देते हुए इ-त्सिग ने कहा—"हमारे देश मे भगवान् बुद्ध के बताये पावन मार्ग में बहुत-सी भूले—बहुत-सी त्रुटियाँ आ गई हैं। मेरे अध्यापक हुई-ह्सी ने इन त्रुटियों का सुधार कराने की बात मुझसे कही थी। मैंने उसी समय अन्वेषण और अध्ययन-द्वारा इसमे आये दोष को दूर करने का विचार और इसके लिए भारत की लम्बी यात्रा करने का संकल्प किया था। वह संकल्प भगवान् बुद्ध की असीम दया से पूरा हुआ। मैं वहाँ गया, वर्षों तक अनवरत परिश्रम और अध्ययन करके बौद्ध-धर्म-ग्रन्थों के पाँच लाख श्लोकों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं; किन्तु उन प्रतिलिपियों का निचय, वह अनवरत परिश्रम—मेरा वह कठिन अन्वेषण—आज धूल मे मिलना चाहता है।

मेरी अवस्था ५५ वर्ष को पहुँच चुकी है। प्रतिपल निराश हो उठता हूँ कि कहीं यह क्षणभंगुर जीवन प्रातःकालीन ओस-बिन्दु की भाँति सूखकर नष्ट न हो जाय और मेरी जन्म की अभिलाषा—जीवन-भर की कमाई—का दुर्लभ फल हाथ में आकर छिन न जाय—लुप्त न हो जाय! मेरा सञ्चित किया हुआ पवित्र धर्मशास्त्र वास्तव में महत्त्व-पूर्ण है। फिर भी वह समुद्र-पार, भोज देश में पड़ा हुआ है। जब वह हाथ मे नहीं है, तब फिर उसके पाने की आशा कैसे करूँ? प्रतिक्षण उसके लिए हृदय में संशय उत्पन्न होता रहता है। जब तक मैं उसे ले न आऊँगा, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। पर, अब अकेले जाने मे भी भय हो रहा है। वहाँ जाऊँ और वहाँ या रास्ते मे ही मृत्यु हो जाय, तो सब बना-बनाया नष्ट हो जायगा। मुझे एक ऐसा व्यक्ति आप लोग दे, जो मेरे साथ श्रीभोज चलकर उन किताबों के अनुवाद मे मेरी सहायता कर सके।"

इ-त्सिग की बातों को लेकर सभा में विचार-विमर्श होने लगे। बहुत तर्क-वितर्क—वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चिय हुआ कि 'चेङ्ग-कू' (सालगुप्त) नामक भिक्षु सब तरह इसके योग्य है। यदि वह जाय, तो सब कार्य सुन्दर रूप में सम्पन्न हो जायगा। चेङ्ग-कू 'चिह-चिह' मन्दिर के निकट की एक पहाड़ी मठ में रहता था। छोटी अवस्था से ही उसने अपने को निर्दोष और स्वच्छ रक्खा

था। बहुत दिनों तक उसने विनय-सिद्धान्त का अध्ययन किया था और उन सिद्धान्तों की ही लीक पर पूर्णतः चलता था। उसका जीवन अत्यन्त सादा था। विलासिता उसे छू भी न गई थी। वह बड़ा सत्यवादी था। कभी मिथ्या भाषण न करता था। मनन और निदिध्यासन में ही उसका समय व्यतीत होता था। बुद्ध के दिये उपदेश तथा दस शीलो पर पूर्णरूप से चलता था।

इ-त्सिंग ने जब उसका नाम और परिचय सुना, तब उसके मन में आशा बँधी। उसे उसी क्षण विश्वास हो गया कि वह भिक्षु उसके साथ अवश्य जायगा। उसने उसे एक चिट्ठी भेजी और उसमे अपना मन्तव्य और अपनी यात्रा की मोटी-मोटी बाते लिखीं।

चेङ्ग-कू को जब इ-त्सिंग का पत्र मिला, तब वह उछल पड़ा। इ-त्सिंग-जैसा भारत के नालन्दा-विश्व-विद्यालय का अधीत महाविद्वान्, बौद्ध-शिरोमणि, बौद्ध-धर्म के एक-एक नियम पर शरीर को तपानेवाला महापुरुष, उसको पत्र लिखकर मित्रवत् बुलाये और वह प्रसन्न न हो! अपने को धन्य न समझे! वह स्वतः विद्वान् था। इ-त्सिंग के उद्देश्य, उसकी विचारशीलता, उसके कामो का उसने पूर्णतः अध्ययन किया था। वह उससे सहमत था। इ-त्सिंग पर पहले ही से उसकी श्रद्धा थी। और वह भी एक साहसी युवक था। धर्म के प्रचार में अपने जीवन तक को हँसते-खेलते दे-देना उसके लिए कोई बड़ी बात न थी। चिट्ठी पढ़ते ही वह इ-त्सिंग से मिलने चल पड़ा।

चेङ्ग-कू उससे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। एक बार के मिलन से ही दोनों में गाढ़ी मित्रता हो गई। इ-त्सिग ने लिखा है—"चेङ्ग-कू से भेंट होते ही मैंने अपनी छोटी छतरी झुकाकर उसका स्वागत और सम्मान किया और आचार्य कन्फ्यूशस[१] के सदृश मित्र-भाव से बातें कीं; क्योंकि हम दोनों ने अपने पाँचों अंग धर्म को दे दिये थे;

१ Confucius = इसका जन्म ई० पू० ५५१ मे एक राजवंश मे हुआ था। आरम्भ मे कुछ दिन तक इधर-उधर घूमता रहा, फिर शेष जीवन को शिक्षा-प्रचार, सुधार आदि मे लगा दिया। यह गौतम बुद्ध का समसामयिक था। यह चीन का विख्यात सुधारक माना जाता था। बौद्ध-धर्म से मिलता हुआ इसने भी एक अलग कनफ्युजियन-धर्म चलाया था। शुद्ध आचरण और आत्मानुशासन (Self discipline) ही इसका मूल धर्म था। जिस समय भगवान् बुद्ध भारत मे अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, उस समय यह चीन मे अपना दर्शन फैला रहा था। शासन और समाज दोनो मे इसने बहुत कुछ सुधार कर दिया। यद्यपि इसका मत बहुत दिनो तक टिका नही, फिर भी यह अवतार माना जाता था। इसका सबसे सुन्दर सिद्धान्त था—'जब अपने प्रति किये गये किसी व्यवहार से तुम्हें घृणा है—उसे तुम पसन्द नही करते—तो दूसरे के प्रति भी वैसा व्यवहार न करो।' इसकी मृत्यु ईस्वी पू० ६२३ में हुई। इसके दर्शन और शासन-सुधार का चलानेवाला उस समय कोई योग्य शासक नही था; इससे यह उदास होकर ही

इसलिए हमारी मित्रता इतनी बढ़ गई कि हमने एक दूसरे के सामने अपना-अपना हृदय खोलकर रख दिया। जैसे दोनों पूर्वकाल से ही मित्र हों। मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा था; किन्तु सौभाग्य से मुझे वैसा ही व्यक्ति मिल गया, जैसा मुझे आवश्यक था।"

एक दिन निर्मल-धवल रजनी की निस्तब्धता में बैठकर दोनों अपने भावी कार्य पर विचार करने लगे।

मरा। इसके लिखे ग्रन्थो ने चीन निवासियो के विचारो को पलट दिया था। इसके विषय मे चीन का प्रसिद्ध चरित-लेखक 'स्सु-म-चि-एन' लिखता है—"जब कन्फ्यूशस 'पि-किंडा'—भयिष्यत्सूचन की पुस्तक—पढता था, उसकी चमडे से मढ़ी जिल्द तीन बार टूट गई थी। इसी ने चीन के राजा को 'तियेन त्जे', अर्थात् – 'चीन के देवता का पुत्र' की उपाधि दी थी। इ-त्सिंग के समय मे भी चीन का सम्राट् 'तियेन-त्जे' कहलाता था।

—Romance of Lives III.

कनफ्यूसस का सब से पहला अनुगामी (Forerunner) लाओज (Lao-tze) था। दोनो का विश्वास था – किसी काम को पूर्ण करने की शक्ति मनुष्य-मात्र मे है। सारे सुख-दुःख का कारण हम स्वयं होते हैं।

—चीनी आदर्श पर डा० सुधीन्द्र बोस के एक भाषण से

—The Modern Review for October 1939.

चेङ्ग-कू कहने लगा—"यह मेरा सौभाग्य है, कि आप-जैसे महान् व्यक्ति से मेरी भेंट हुई और आपने मुझ तुच्छ के सामने यह सुन्दर प्रस्ताव रक्खा। यह सब दयामय की कृपा है। जब भलाई भलाई से मिलना चाहती है, तो बिना किसी माध्यम के उनका सुन्दर संयोग हो जाता है। और यदि किसी काम का होना नहीं बदा होता है, तो लाख यत्न करने पर भी वह नहीं होता। आज आपकी छाया मे मेरा सौभाग्य उदित होना चाहता है। अहा! आपके साथ त्रिपिटक-प्रचार की अग्नि से अपना जीवन-दीप जलाकर मैं प्रतिभासित हो उठूँगा। आशा करता हूँ, शीघ्र ही भोज के लिए आप प्रस्थान

दोनों में बात पक्की हो गई। यात्रा करने के पहले उन लोगों ने अपने मित्रों, गुरुजनों तथा दूसरे-दूसरे भिक्षुओं और उपासकों से भेंट करके उनकी मंगल-कामना चाही। जिस मन्दिर में वह ठहरा था, उसका प्रधान 'कियेन' भारी अवसरवादी था। किस समय कौन-सा काम युक्ति-संगत है, इसका उसे पूरा अनुभव था। इ-त्सिंग उससे विदा और परामर्श लेने हिसया पर्वत पर गया। वहाँ जाकर उसने उससे अपना सब हाल कह सुनाया। कियेन बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसे अधिक अटकाना अनुचित समझा और द्रव्यादि से सहायता करके शुभ समय में जाने की आज्ञा दी। फिर वह कंग-तुंग चला आया।

शुभ मुहूर्त्त में वह दक्षिण को जानेवाले व्यापारी जल-पोत पर सवार हुआ। उसने यह यात्रा चीन आने के चार महीने बाद की थी। क्रियेन के सिवा कङ्ग-तुङ्ग में और-और भिक्षुओं ने आवश्यक वस्तुओं से उसकी सहायता की। किसी-किसी लेखक का कहना है, कि क्रियेन ने भी उसके साथ यात्रा की। वह इसलिए साथ हो लिया कि इ-त्सिग को रास्ते में किसी तरह का कष्ट न हो।

रास्ते में उसके सामने कोई भी बाधा उपस्थित, न हुई। उसने ख़ुशी-ख़ुशी समुद्र की लम्बी यात्रा समाप्त कर ली। भोज की भूमि पर पदार्पण करते समय उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। वह लिखता है—"भोज की भूमि पर सकुशल पाँव रखते ही मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मेरा संकल्प पूरा हो चुका। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई और मेरी आशा पुनः पनप उठी।

चेङ्ग-कू के साथ 'ताओ-हुङ्ग' तथा दो और भिक्षु भोज पहुँचे थे। उन सब ने पूरे तीन वर्ष तक वहाँ सूत्रों का अध्ययन किया। ताओ-हुङ्ग उस समय (सन् ६८९ ई०) मे केवल बीस वर्ष का युवक था।

इ-त्सिग वहाँ जाकर अपने भारत-भ्रमण का वृत्तान्त—'नन-है-चि-कुएइ-नै-फा-चुअन'—लिखने में लग गया।

स्वदेश को उसका भारत का अमर सन्देश

[५]

दक्षिण-सागर (मलयद्वीप) मे बैठकर अपना वृत्तान्त लिखने और धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद में वह जुट गया। लगातार तीन वर्ष तक अनवरत परिश्रम करने के बाद, सन् ६९२ मे उसकी प्रमुख पुस्तक 'तन-है-चि-कुएइ-नै-फा-चुअन' (दक्षिण-सागर से स्वदेश को लिखा हुआ धर्म का भीतरी वृत्तान्त) चार खण्डों में समाप्त हुई। और भी उसने दस खण्डों मे सूत्रों और धर्म-शास्त्र-ग्रंथों का अनुवाद तथा दो ग्रन्थ-खण्डों में 'ता-तङ्ग-सि-पू-कू-फा-काओ-सेङ्ग-चुअन' (एक दूसरा वृत्तान्त) लिखकर पूरा कर लिया था। अब वह इस चिन्ता में लगा कि इन ग्रन्थों को किसके हाथ भेजे। वह भारत में एक बौद्ध-मन्दिर भी बनवाना चाहता था; किन्तु इस काम के लिए चीन के सम्राट् से आज्ञा लेनी आवश्यक थी।

उस समय भोज में 'ता-त्सिन' नाम का एक और चीनी भिक्षु रहता था। वह वहाँ सन् ६८३ ई० मे ही आया था। इ त्सिग ने इन कामों के लिए उसे योग्य समझा। उसने इसके लिए प्रार्थना की। वह खुशी-खुशी सब काम करने को तैयार हो गया। उसने विचारा—"यदि मेरे प्रयत्न से मन्दिर बनाने के लिए सम्राट् ने आज्ञा दे दी, तो मेरा बड़ा लाभ होगा। भारत का सन्देश तथा धर्म-ग्रन्थों के नये अनुवाद स्वदेश ले जाने में भी उसने अपना बड़प्पन ही समझा। इ-त्सिग लिखता है—"इन बातो से सन्तुष्ट होकर उसने अपने प्राणों की कुछ भी परवा न की और विस्तृत महासागर को फिर से पार करने के लिए तैयार हो गया।"

वह उन ग्रन्थों को बाँध एक व्यापारी जल-यान पर सवार हुआ और चीन-सम्राट् की राजधानी—चङ्ग-अन (सि-अन-फू) को चल पड़ा।

इ-त्सिग के नये अनुवाद तथा उसके भारत के सन्देश ने चीन में एक नई धार्मिक क्रान्ति ला दी। अपने वृत्तान्त में उसने स्वदेश के लिए जो भारत की बात लिखी है, वह बड़े महत्त्व की है। उसके कुछ उद्धरणों का विहंगम-दृष्टिपात यहाँ अनुपयुक्त न होगा। यह उसी के शब्दों में सुनना अच्छा होगा।

"मेरे स्वदेश के मित्रो,

हमारे देश में विनय आदि धर्म-ग्रन्थों की टीका भद्दी कर दी गई है। उसके अर्थ दुर्बोध हो गये हैं। देश करीब-करीब सत्य-बौद्ध-धर्म की लीक से उतर कर पथ-भ्रष्ट हो रहा है। मै आप सब की सेवा मे आर्य शिक्षा और भारत मे प्रचलित बड़ी-बड़ी रीतियो के आधार पर—जिसका मैंने अध्ययन किया है तथा आँखो देखा है—लिखकर यह सन्देश भेज रहा हूँ। यदि आप लोग मेरे इस सन्देश को पढ़ेगे, तो सत्य ही वर्त्तमान भारत की प्रतिच्छाया आपके सम्मुख झलक उठेगी। आप भी भावी सहस्रों प्रश्नों के लिए तमोमय मार्ग की ज्योति बन जायँगे।

आशा है, हमारे देश के निष्पक्ष भिक्षुगण इसकी उपेक्षा नहीं करेंगे।

हमारे यहाँ तथा दूसरे देशो में सृष्टि की उत्पत्ति की बड़ी ऊट-पटॉग बाते सुनने मे आती है कि आदि में तीन सहस्र लोक उत्पन्न हुए। उस समय जड़ और चेतन में कुछ भेद नहीं था। पीछे पृथ्वी पर आकाश, वायु उतरे, आकाश मे चन्द्र-सूर्य चमकने लगे। सहस्रो नक्षत्र धूम-धाम से घूमने लगे। पृथ्वी ठोस हो गई, उस पर पहाड़ निकल आये और समुद्र लहराने लगा। फिर विवाद-द्वारा स्त्री-पुरुष का संयोग हुआ और प्रजा की वृद्धि होने लगी; किन्तु यह संकीर्णज्ञानवालों का ही

कथन है। भारत के महान् दार्शनिकों में भी इस बात को लेकर अलग-अलग सिद्धान्त हैं। सांख्य-दर्शन कहता है—सब पदार्थ एक से उत्पन्न हुए हैं; किन्तु वैशेषिक के पाँच प्रकार के भूत छः पदार्थों से उत्पन्न हुए है। हमारे लोक-ज्येष्ठ महामुनि बुद्ध ने यह विवाद स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अपने-आपको देवों और मनुष्यों का गुरु और सर्वज्ञ समझा है। भगवान् कहते है—सृष्टि की उत्पत्ति चार प्रकार से— गर्भ से, अंडों से, आर्द्रता से, अथवा अलौकिक रीति से—होती है। महामुनि के जीवन की तीनों अवस्थाओं—काम, जगत्, रूप-जगत् तथा अरूप-जगत्—को अपने अनुपम उपदेशों-द्वारा तामस-प्रदेश से मुक्त कर दिया है। क्लेश-रूप नदी को पार कर निर्वाण-रूप तट पर पहुँचने का अत्यन्त ही सुगम मार्ग बतला दिया है।

जब हमारे महामुनि ने निरञ्जना नदी (नाग नदी) के तट पर बोधिज्ञान प्राप्त किया, तब प्राणियों की नौ श्रेणियाँ—जीवन की तीन अवस्थाएँ और उनके तीन-तीन उपविभाग—निर्वाण की आशा करने लगीं। जब उन्होंने काशी मे अपना उपदेश सुनाया, तब धर्म-पिपासा से त्रस्त मानव मुग्ध हो उठा। महामुनि के पहले, मुक्ति के लिए कोई शरीर में भस्म लगाता, केशों को मुड़ा देता, कोई दिगम्बर हो जाता। किसी का कहना था—आत्मा अमर है। कोई कहता—मृत्यु के बाद वह नष्ट हो जाती है।

दूसरा कहता—मनुष्य मृत्यु के बाद जन्म लेकर मनुष्य ही होता है। तीसरा कहता—मृत्यु के बाद वह प्रेत बन जाता है; किन्तु इन सिद्धान्तों से किसी को सन्तोष नहीं होता था। बुद्ध के उपदेश ने सबका मन अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। चीन में कितने इसी खोज में लगे हैं कि मनुष्य तितली से बना अथवा मनुष्य ही तितली बन गया। उन्हें इस फरेब में न पड़ना चाहिए और बुद्ध के अतर्क्य उपदेशों से लाभ उठाना चाहिए।

भगवान् बुद्ध ने पाँच भिक्षुओं—कौडिल्य, वप्र, भद्रिय, महानाम और अश्वजित को ऋषिपत्तन में शील का उपदेश देकर दीक्षित किया था। इन सबके प्रचार से सहस्रों मनुष्य बौद्ध-धर्म में आने लगे। उनका सबसे पहला शिष्य सुभद्र था। भगवान् ने अपने शिष्यों के साथ बौद्ध-भिक्षुओं के संघ की स्थापना की और इसकी रक्षा और प्रचार करते हुए अस्सी वर्ष की अवस्था तक जीते रहे। लोक-ज्येष्ठ ने गूढ़-से-गूढ़ तत्त्वों की सरल व्याख्या की। थोड़ी-सी योग्यता के लोग भी उनके उपदेशों का अवगमन भली भाँति कर सकते थे। साधारण अनुयायियों को भी बड़े प्यार से अपनाते और पञ्चशील की शिक्षा देकर संतुष्ट कर देते थे। वे किसी को उसकी योग्यता के अनुसार ही उपदेश देते थे।

शाक्यमुनि का निर्वाण होने पर भिक्षुओं को यह भय हुआ कि उनके उपदेश कालान्तर में नष्ट न हो जायँ।

दो बार महती सभा बैठाई गई। पहली बार बिहार की गुहा में ५०० भिक्षु और दूसरी बार वैशाली मे ७०० भिक्षु एकत्र हुए। दोनो सभाओ ने बुद्ध के उपदेशों को बड़े परिश्रम से ग्रन्थ-बद्ध किया; किन्तु इनके अठारह विभिन्न मत उत्पन्न हो गये। इनकी विभिन्नता, बड़े-बड़े सिद्धान्तों को लेकर नहीं, छोटी-छोटी बातों को लेकर है।

बुद्ध ने इन अष्टादश विभिन्न मतों की भविष्यवाणी सम्राट् बिम्बिसार के एक स्वप्न में कपड़े और सोने की छड़ी के अठारह टुकड़े देखने पर सुनाई थी और कहा था कि इसके लिए डरने की कोई बात नहीं है। इनमें कोई विशेष अन्तर न होगा और अन्त में सब फिर मिल जायँगे।

ये अठारह मत चार निकायों के उपविभाग हैं। और चारों निकाय[1] दो प्रमुख सिद्धान्त, महायान और हीनयान के अन्तर्गत हैं। जो बोधिसत्त्वों की उपासना और महायान सूत्रों का अध्ययन करते हैं, वे महायान-सिद्धान्त के; और जो ये बातें नहीं करते, वे हीनयान-सिद्धान्त के है। हीनयान बौद्ध-सिद्धान्त की आदि और प्राचीन शाखा है। महायान-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी दो वाद हैं—एक 'माध्यमिक' और दूसरा योग। सामान्यतः जिसे अस्ति कहते हैं, पहला उसे नास्ति कहता है और समझता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु माया के सदृश

१ निकायो का विवरण पीछे देखें।

केवल आभास-मात्र है। दूसरा वाद कहता है—सब वस्तुओं का अस्तित्व केवल हमारा मन ही है। यथार्थतः अन्तःविचार ही सब कुछ है। बाह्य वस्तु कुछ भी नहीं। महायान-सिद्धान्तवाद मे तन्त्र भी बहुत कुछ मिला हुआ है। जिस प्रकार शिव की शक्तियाँ है, उसी प्रकार बुद्ध की कई शक्तियाँ और देवियाँ हैं, जिनकी उपासना की जाती है। ये दोनों दर्शन पूर्णतः आर्य-मत के अनुसार हैं। दोनों समान-रूप से सत्य के समान हैं और दोनों हमे निर्वाण तक ले जाते हैं। भारत में दोनों पद्धतियाँ समान-रूप से सिखाई जाती हैं; क्योंकि आवश्यक बातों में उनका आपस मे कोई भेद नही है। फिर हममे तो ज्ञान-चक्षु नहीं, हम उनके सत्य-असत्य की पहचान कैसे कर सकते हैं? हमे ठीक वैसा ही करना चाहिए, जैसा हमारे पूर्व के अधिकारी-वर्ग ने किया है। हमारे देश मे सभी विनय-सम्प्रदायवादियों मे पक्षपात आ गया है। हम पथ-भ्रष्ट हो गये हैं। हमने स्वतः धर्म-ग्रन्थों की स्पष्टता को जटिल और नियमों को दुर्बोध बना दिया है। यही कारण है कि हमारी अभिलाषा आरम्भ मे ही निराश हो बैठती है—हम कुछ समझ नहीं पाते और हमारी आकांक्षा पर पानी पड़ जाता है। विनय की पुस्तको को परिवर्द्धित करने से वे और दुर्बोध बन गई है। शिक्षा की प्रणाली ठीक नहीं है। फलतः विद्यार्थी विषय को ठीक से नहीं समझते। इन सब में आमूल परिवर्तन की बड़ी

आवश्यकता है। ग्रन्थकर्ताओं को यत्न करना चाहिए कि उनकी किताबें सब समझ सकें। भाषा में जटिलता न लानी चाहिए। यही जटिलता हमारी दुर्गति का कारण है।

भारत की सभी बातों से मैं मुग्ध हो उठता हूँ। सन्तान पितृ-भक्त होती है, माता-पिता पुत्र-वत्सल होते हैं। गुरु-शिष्यों में अनन्य प्रेम और भक्ति का भाव रहता है। प्रजा राज-भक्त होती है। राजा प्रजा की भलाई के लिए कट-मरने को तैयार रहता है। राजा-प्रजा सभी में विद्या की ओर बड़ी अभिरुचि रहती है, कभी-कभी राजा सैकड़ों पीठें तैयार करके अध्यापकों को निमन्त्रित करता है। कभी कोई राजा राज्य-भर में चैत्य बनवाकर बुद्धि-मानों के मन को बुद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट करता है। अज्ञानियों की उपासना तथा अध्ययन के लिए संघाराम बनाये जाते हैं। किसान अपने खेतों में और व्यापारी जल-पोत अथवा बजड़े पर मधुर राग अलापते रहते हैं। कोई भी कष्ट का अनुभव नहीं करता। पेट की चिन्ता किसी को नहीं रहती। भारत में अन्न की कमी नहीं है। अथिति-सत्कार एक ही है। यहाँ के लोग हाथी की पूजा करते हैं। राजा तक हाथी का सम्मान करता है। कहीं-कहीं मुर्गे की पूजा भी होती है।

चीन में यदि भिक्षुगण वस्स नहीं करते, तो उन्हें दोषी माना जाता है; किन्तु भारत में ऐसी प्रथा नहीं है। यदि भिक्षु वस्स न करें, तो वे पदच्युत नहीं किये जाते।

वही दोषी समझे जाते हैं, जो वस्स करते हुए बाहर का निमन्त्रण स्वीकार कर लेते हैं।

भारत के भिक्षु संघ के अनुशासन से तनिक भी नहीं डिगते। अपने से बड़ों का बड़ा सम्मान करते हैं। उनके आचरण अत्यन्त संयत होते हैं। वे बाहर-भीतर से शुद्ध होते हैं। उनके रहने के स्थान, भोजन-वस्त्र और शरीर की स्वच्छता पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। संघ मे स्त्री-पुरुष दोनों के रहते हुए भी उनमे दुराचरण, व्यभिचार और दुर्भावना नहीं आने पाती। उनका नित्य प्रातःकाल मे स्वच्छ जल की परीक्षा करना, नियमानुकूल दिन-रात के काम, उनका अध्ययन-अध्यापन, उनके अनुष्ठान आदि अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। चीनी-भिक्षु— अथवा वहाँ की जनता ही—उच्छिष्ट, बासी और तीसरे पहर का भोजन करने मे कोई दोष नहीं मानते। भारत इसे अत्यन्त ही उपहासास्पद समझता है। झूठे भोजन को रख छोड़ना, भारतीय नियमों के बिलकुल विरुद्ध है। झूठे भोजन को इकट्ठा करने से थालियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। जो लोग भोजन परोसते हैं, वे शुद्ध बर्तनो को छूते हैं। शुद्ध और स्वच्छता पर ध्यान न देना चीन के लिए बड़ी लज्जा की बात है; उसे भारत से इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। दातुन करने की प्रणाली भी बड़ी निन्दनीय है। हम बेंत की लकड़ी को सारी-की-सारी चबा जाते हैं; पर कुल्ला नहीं करते, न जिह्वा ही साफ

करते हैं। न जाने यह कुप्रथा हम सब के मन से कब टलेगी।

यदि भोजन और आच्छादन का व्यवहार उचित नियमों के विरुद्ध हो, तो पद-पद पर कोई-न-कोई अपराध होता रहेगा। नैतिक व्यवस्था के बिना मन को शान्त करने की क्रिया से, ज्यों-ज्यों मनुष्य ध्यान करता है, उतनी ही व्याकुलता बढ़ती जाती है। जो मोक्ष की तलाश में हैं, उन्हें बुद्ध के श्रेष्ठ वचनों के अनुसार ही भोजन और आच्छादन का व्यवहार करना और आचरण शुद्ध रखना चाहिए। कुछ लोग विनय के एक-आध नियम का पालन करने से ही समझते हैं कि हम पाप-मुक्त हो गये। वे फिर विनय के नियमों का अध्ययन करने में लापरवाही दिखाते हैं। उन्हें इसका कुछ भी विचार नहीं, कि कैसे खाना और वस्त्र पहनना चाहिए। हम केवल शून्यवाद पर मनन करने का ही बुद्ध की इच्छा समझते हैं। क्या और व्यवस्था उनके लिए नहीं? एक का सम्मान और दूसरे की उपेक्षा मनुष्य के अपने निर्णय का फल है। हम दूसरे के चले पथ पर—भले ही वह पथ भ्रष्ट हो—आँखें मूँदकर चलते हैं; किन्तु सच्ची व्यवस्था की पुस्तकें नहीं पढ़ते। हमें छोटे-बड़े का विचार छोड़कर विनय के एक-एक नियम का अनुकरण करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह छोटे-से-छोटे दोष से बचने का सदैव प्रयत्न करता रहे। हम सब के दयालु पिता भगवान् बुद्ध पुरुषदम्यसारथि (मनुष्य-

रूपी घोड़े को साधनेवाला सारथी) कहलाते हैं, उनकी शिक्षा पर चलनेवालो के लिए मुक्ति बहुत दूर नहीं ; किन्तु जो उनके पवित्र वचनों की उपेक्षा करता है, वह अवश्य ही पुनर्जन्म लेता है ।

निर्वाण के इच्छुक भिक्षुओं को 'लोभ, घृणा और मूर्खता' य तीन विष-वृक्ष जड़ से काट देने चाहिए। उन्हे 'पार्थिव कामना, भाव की अवस्था, भ्रान्त बुद्धि और अविद्या', इन चार प्रवहमान विस्तृत धाराओं को भरसक रोकने का यत्न करना चाहिए। मन को पवित्र रख सच्चे मार्ग पर चलना चाहिए। रात-दिन शील पर ध्यान देने से धर्म की वृद्धि होती है। जब मनुष्य विनय की शिक्षा पाकर शुद्ध आचरण रखता है और धूतांग आदि के अनुष्ठान मे पूर्णता प्राप्त कर लेता है, तब उसे अर्हत-पद मिल जाता हैं। नाग, प्रेत, देव, दानव, मानव सभी उसकी पूजा करने लगते हैं।

जब किसी कुटुम्बी अथवा संघ के भिक्षु की मृत्यु हो जाती है, तब हम सामान्य आचार पर चलते हैं, महीनो रोते-चिल्लाते हैं और तीन वर्षों तक शोक का वेष धारण करते हैं ; किन्तु भारत में ऐसा नहीं होता। यह कार्य महामुनि की आज्ञा के विरुद्ध है। मृत्यु निश्चित है। एक दिन सब को मरना ही है। शोक करने से अनुष्ठान मे बाधा पड़ती है। हमें इसमे भारतीय संघ का अनुकरण करना चाहिए।

हमारे देश मे उपसम्पदा पाये हुए व्यक्तियों में भी बहुत-सी त्रुटियाँ पाई जाती हैं। उपसम्पदा-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले को जब उपसम्पदा मिल जाती है, तब वह फिर कभी अध्यापक को मुँह नहीं दिखाता। न वह उपदेश पर ध्यान देता है और न वह उपदेश और विनय की ही पुस्तक पढ़ता है। एक साधारण बुद्धिवाला भी कह सकता है कि ऐसे व्यक्ति का उपसम्पदा लेना व्यर्थ है। भारत में ऐसे व्यक्तियों की बड़ी खिल्ली उड़ाई जाती है। मैं प्रार्थना करता हूँ—जिन पर धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व है, उन्हें इन त्रुटियों का सुधार करना चाहिए।

अहा! भारत मे शिक्षा के लिए कितनी सुन्दर व्यवस्था है! गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध विश्व-भर के लिए आदर्श है। विद्यार्थी चाहे राजा का लड़का हो अथवा भिखारी का, सबको अध्यापक अपने पुत्र के समान रखता और पढ़ाता है। गुरु उन्हें रात-दिन अपने नियन्त्रण में रखकर उनके जीवन को अत्यन्त उन्नत बना देता है।

ये सब धर्म-संगत बाते मैंने श्रेष्ठ प्रमाणों के आधार पर लिखी हैं। यह मेरी अपनी स्वतन्त्र सम्मति नहीं। मेरे कथन से आप लोग क्रुद्ध न होंगे। यदि मैं स्वदेश का यथार्थ दोष न बताऊँ, तो फिर इसके सुधार की ओर देश की दृष्टि कैसे जायगी। हमें सब तरह से भारत का

अनुकरण करना चाहिए। भारत चीन से सर्वथा श्रेष्ठ है। वह अनुकरणीय है और हमारे लिए आदर्श है। जब मैं स्वदेश में था, तब अपने को विनय का पूर्ण ज्ञाता समझता था; किन्तु भारत मे आकर मैंने इस विषय मे अपने को कोरा अनभिज्ञ पाया। आह! यदि मैं भारत न आता, तो शुद्ध रीति और अपनी अनभिज्ञता दूर करने का अवसर कब पाता।

यद्यपि मुझे आते और जाते—दोनों समय वहाँ के भयंकर लुटेरे-दल का सामना करना पड़ा था और मेरी जान खतरे मे थी, फिर भी भारत विश्व-भर मे दर्शनीय और रहने का स्थान है। यदि जन्म-भर मनुष्य अध्ययन करना चाहे, तब भी वहाँ की शिक्षा का पार न पावेगा। वहाँ के विहार, विश्व-विद्यालय, चैत्य, देखकर ही अनुभव किये जा सकते है। वहाँ का समाज अत्यन्त प्रिय मालूम होता है। विदेशियो का जितना सत्कार और सम्मान वहाँ होता है, उतना इस भू-खंड में शायद ही कही होता हो। वहाँ की उर्वर और समतल भूमि, पहाड़ी उपत्यका, वनप्रान्तर देखकर आँखें अघाती नहीं। बारी-बारी से सुन्दर ऋतु-परिवर्तन तो वहाँ की अलौकिक ईश्वरीय देन है। भारत का वर्णन कहाँ तक किया जाय। वह तो केवल देखकर ही अनुभव किया जा सकता है। बुद्ध के जन्म-स्थान का लुम्बिनी आराम (कपिलवस्तु में); मगध में निरंजना नदी के समीप बोधि-वृक्ष, जहाँ महा-

मुनि को बुद्धत्व प्राप्त हुआ था, काशी का चैत्य, जहाँ से बुद्ध ने पहले-पहल अपने धर्म का प्रचार किया था; जेत्ताराम चैत्य (श्रावस्ती) जहाँ बुद्ध ने अपनी बड़ी अलौकिक शक्तियाँ दिखलाई थीं; कान्यकुब्ज (कन्नौज) का चैत्य, जहाँ बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से उतरे थे; राजगृह, जहाँ शिष्यो मे बुद्ध ने शिक्षा दी थी; वैशाली का चैत्य, जहाँ बुद्ध प्राय: आयु-भर उपदेश देते रहे और कुशीनगर के शाल-वृक्षों की पंक्ति, जहाँ बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया था, ये आठों स्थान तो जीवन में एक बार अवश्य देखने चाहिए।

भारत के कुछ भिक्षु-दल मे मैंने एक बड़ा भयंकर दोष पाया। वह है जीते-जी अपने को आग में जला देना, पहाड़ पर से गिरकर अथवा गंगा आदि नदियों में डूबकर अपनी जान दे देना। ऐसा करना वे धर्म-संगत समझते हैं और इस तरह आत्म-हत्या करके निर्वाण की मनोकामना करते हैं; किन्तु यह महापाप है। जिस भिक्षु को घास का एक तिनका भी नष्ट करने मे पाप का भागी बनना पड़ता है, उसके लिए आत्म-हत्या का विधान किस विनय में होगा। यह सत्य है कि सद्धर्म-पुण्डरीक प्रभृति कुछ ग्रन्थों में ऐसे कर्मों का उल्लेख आया है; किन्तु वह कुछ दूसरा अर्थ रखता है। उसका अभिप्राय है—दूसरे के सुख के लिए अपने जीवन तक का त्याग। किन्तु, ऐसा ये भिक्षु कहाँ करते हैं, ये तो समझते हैं—

किसी तरह शरीर का कष्ट सहनकर मर जाने में ही मुक्ति है। यह कितना घृणित कार्य है। यह ठीक है कि सर्वसत्व प्रियदर्शन ने अपनी बाँह को भूनकर क्षुधातुरों को भोजन कराया, महासत्व ने परसुख के लिए अपने नेत्र और शरीर नष्ट कर डाले, ऋषि निन्दित ने इसी काम में अपने शरीर का होम कर डाला, राजा मैत्रीबल ने अपनी बलि दे दी; किन्तु आज के युवक तो ऐसा नहीं करते। मैंने चीन के विषय में भी सुना है कि वहाँ के युवक धर्मानुष्ठान करते हुए अपने-आपको जला देना बुद्धत्व प्राप्त करने का एक साधन समझते है और एक-दूसरे के बाद अपने जीवन का परित्याग करते हैं।

हमारे युवक भिक्षुओं को स्वयं विचारना चाहिए कि यह कितना घृणित कर्म है। अहिंसा-मार्ग का आलम्बन मुक्ति-पथ का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शक है। यदि हमसे और कुछ न हो सके, तो बुद्ध के कहे चार प्रकार के उपकारों—बुद्ध, राजा, गुरु, माता-पिता और दूसरे उपकारियों के उपकार—का बदला चुकाकर प्राणियो की सेवा मे लग जाना चाहिए। यह हमारा सबसे बढ़कर धर्म का काम होगा। हमारे पूर्वज तथा दूसरे प्राचीन काल के धर्मात्मा ऐसे कामों का अनुष्ठान नहीं करते थे।

आज जो कुछ भी मैं जान सका हूँ, अथवा विदेश-भ्रमण आदि मे सफलता मिल सकी है, वह सब मेरे गुरु 'शन-यू' और 'हुइ-ह्सी' की कृपा का फल है। मैं

जीवन-भर उनके इस ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। मैं उन्हें कभी भी नहीं भूलता और इस सन्देश में भी उनके विषय में कुछ लिखे बिना हृदय नहीं मानता। उनका जीवन आदर्श था। उनके जीवन के परिचय से हम लोग यदि वैसा आचरण करें, तो बड़ा लाभ होगा।

आचार्य 'शन-यू' मेरे उपाध्याय तथा हुइ-ह् सी कर्माचार्य थे। दोनों तपस्वी भिक्षु थे। यद्यपि वे समझते थे कि वन का जीवन एक अध्ययनशील भिक्षु के लिए सुन्दर है, फिर भी जंगल में रहने से जनता की भलाई नहीं हो सकती थी। इससे वे पिङ्गलिन में 'प्रणतसिंह' नदी के तट पर बने भूमि-गुफा के मन्दिर में रहने लगे। उस मन्दिर में वे स्वतन्त्रता-पूर्वक अध्ययन-अध्यापन करते थे। उनका एक भोजन का भांडार था, जिसमें भोजन की अमित सामग्री रहती थी। यह सामग्री उन्हें पडोस की जनता से मिलती थी। जो कोई भी मन्दिर में पहुँच जाता, उसका वे बड़ा सम्मान करते और सुन्दर-पवित्र भोजन कराते थे।

उपाध्याय शन-यू को त्रिपिटक का बडा गहरा ज्ञान था। वे बौद्ध और कन्फ्यूशस, दोनों धर्मों के महान् विद्वान थे। इसके अतिरिक्त गणित, भूगोल, ज्योतिष, भविष्यत्सूचन और पञ्चाङ्ग आदि पर पूर्ण अधिकार था। बड़े ही अनुभवी थे। रहस्य की तह तक पहुँच जाना उनके लिए साधारण बात थी। चीन की सभी लिपियों के वे

जानकार थे। उन्होंने त्रिपिटक का उच्चारण-ग्रन्थ (Pronouncing dictionary), शब्द-ग्रन्थ आदि कई सुन्दर-सुन्दर उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। उनके हस्त-कौशल की योग्यता भी अमित थी। वे चूअन, चोऊ, चुङ तथा चङ्ग[1] की रीतियों के अनुसार 'छाप-लिपियाँ' लिखने में बड़े कुशल थे इसके अतिरिक्त वे गान-वाद्य, में बड़े निपुण थे। कुल्हाड़ा चलाना आदि और भी कितने ही ऐसे हाथ के काम थे, जिन्हें वे बड़ी कुशलता से कर लेते थे। वे शैशव से ही बड़े कुशाग्र बुद्धि थे। एक ही दिन में वे महापरिनिर्वाण-सूत्र को आदि से अन्त तक पढ़ गये थे। दूसरी आवृत्ति में उसके गुह्य सिद्धान्तों तथा गम्भीर अर्थों को स्वतः खोजकर समझने लग गये थे। यह ग्रन्थ

१ ये चारों सुन्दर अक्षर लिखने में विख्यात थे। छाप-लिपियाँ दो प्रकार की थी—एक बड़ी और दूसरी छोटी। चाग-वंश के एक सचिव शिह-चोऊ ने इस्वी सन् से कोई ८०० वर्ष पूर्व बड़ी छाप-लिपि का आविष्कार किया था। छोटी छाप-लिपि का आविष्कारक लिस्सू था। वह २१० ई० पू० से २२१ ई० पू० तक चीन-सम्राट् का सचिव था। इसने इस छोटी छाप-शैली में चीनी का पहला अभिधान 'शुओ-वैन', जो सन् १०० में प्रकाशित हुआ था, लिखा है। चुग और चग लिखने में बड़े ही कुशल थे।

—'इ-त्सिग की भारत यात्रा' की एक पाद टिप्पणी

चार ही महीने में समाप्त कर लिया था। अध्यापन-कला के वे गहरे पारखी थे। बच्चे तक उनसे एक बार कोई चीज पढ़कर फिर कभी नहीं भूलते थे। उनका लिपि सिखाने का ढंग, अद्भुत और अत्यन्त सरल था। बड़े-बड़े विद्वान् भी उनकी बातों से मुग्ध हो उठते थे। उनका जीवन-कलश वात्सल्य-रस से लबालब भरा था। वे धन की अपेक्षा सचाई को अधिक महत्त्व देते थे। कोई भी चीज, यदि उनके पास होती, और लोग उनसे माँगते, तो उनके मुँह से न कभी नहीं निकलता था। उनका जीवन अत्यन्त सादा था। उन्होंने अपने जीवन में कभी आलस्य न किया। जीवन-भर अध्ययन, अध्यापन और बचे समय को सुखावती में प्रविष्ट होने के उद्योग में बिताते थे। सदैव धर्मानुष्ठान और पूजा में लगे रहते थे। मरने के एक वर्ष पूर्व उन्होंने अपनी लिखी तथा और जो उनके पास थीं, सब पुस्तकें एकत्र करके आग लगा दी। शिष्य-मण्डली में हलचल मच गई। उन्होंने सब को शान्त करके कहा—"मैं चिरकाल से इन्हीं ग्रन्थों का पढ़ता रहता। इन्होंने मुझे पथ-भ्रष्ट कर दिया था। मैं दूसरों को भी इनके द्वारा कुमार्ग पर क्यों जाने दूँ। जिस चीज को मनुष्य आप नहीं चाहता, वह दूसरों को भी नहीं देनी चाहिए।" मरने के तीन दिन पहले उन्होंने हम सब से कहा—"तीसरे दिन मैं अवश्य इस संसार को छोड़ दूँगा; किन्तु मैं

काम करते हुए मरना चाहता हूँ। मेरे शरीर को किसी दलदली विजय स्थान मे छोड़ आना।" उनके कथनानुसार ठीक समय पर उनकी मृत्यु हुई। ओह! जिस समय मेरे उपाध्याय की मृत्यु हुई, उस समय मैं बारह वर्ष का था। गुरु मुझे अनाथ करके चले गये।

मेरे दूसरे उपाध्याय 'हुई-ह्-सी' बराबर विनय के अध्ययन मे ही लीन रहे। वे भीतर-बाहर पवित्र और शान्त थे। धर्मानुष्ठान से वे कभी विमुख नही होते थे। सबेरे से रात तक भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक-उपासिकाओं को पढ़ाने मे कभी नहीं थकते थे। वे अत्यन्त धैर्यशील, निश्चल और शान्त थे। किसी के साथ पक्षपात नही करते थे। वे बराबर नीरोग रहे। संगीत का भी उन्हे पूरा ज्ञान था। सांसारिक ग्रन्थो से उन्हें प्रेम न था, फिर भी वे उनके पूरे जानकार थे। सद्धर्म-पुण्डरीक ग्रन्थ के वे प्रेमी थे। उनके जीवन की एक अत्यन्त विचित्र घटना है। सद्धर्म-पुण्डरीक की प्रतिलिपि जब उन्होंने समाप्त करली, तब स्वतः उस पर बुद्ध का एक स्मृति-चिह्न उग आया। उसके अक्षर सोने-चाँदी-से चमकने लगे। वह एक रत्न-जटित बक्स मे रख दी गई। पीछे उस समय चीन के सम्राट् ने उसे पूजा करने के लिए माँग लिया।

दोनो देश की विभूति थे। अहा! बचपन में दोनों मुझे कितना प्यार करते थे।

अब मैं यह सन्देश समाप्त करता हूँ। महामुनि मुझे इस परिश्रम में साफल्य दें और मैं चीन को भारत की तरह देखूं।

—इ-त्सिग'



अन्त के पृष्ठ

[६]

पच्चीस वर्ष का (६७१–६९५) लम्बा प्रवास समाप्त करके ६९५ में वह श्री-भोज से स्वदेश को लौटा। उसके चीन पहुँचने के समय मध्य ग्रीष्म बीत रहा था। अपने साथ वह भारत में तैयार की हुई प्रतिलिपियाँ साथ लेता आया।

अब तक उसकी कीर्त्ति देश-भर मे फैल गई थी। सर्वत्र उसकी चर्चा चल रही थी। उसके सन्देश की बातें सब के मुँह पर थीं। स्वदेश की आँखों मे वह महान् बन चुका था। उसके लौटने के पूर्व से ही राज्य की ओर से स्वागत के लिए बड़ी-बड़ी तैयारियाँ हो रही थीं। उसके पहुँचने पर स्वयं चीन की सम्राज्ञी 'चोउ-की-वू-होऊ' ने अपने हाथों स्वागत किया।

इ-त्सिंग के निर्विघ्न और शान्ति-पूर्वक लौट आने तथा प्रतिलिपियों के संग्रह से सब में अपार आनन्द

था। देश के कोने-कोने से लोग उसके दर्शन करने आये थे। उसे देखकर अपने को धन्य समझते थे। भिक्षु-वृन्द तो आनन्द से फूले नहीं समाते थे। उनके बीच एक विचित्र उल्लास दीख पड़ता था। स्वदेश का एक व्यक्ति, जिसने लगातार २०–२५ वर्ष तक जान पर खेल कर, विश्व-विख्यात नालन्दा-विश्व-विद्यालय में अध्ययन करके अगाध पाण्डित्य प्राप्त किया है, जो भारत के पवित्र बौद्ध-तीर्थों के दर्शन करके पुण्यमय हो चुका है, जिसने अपने पाण्डित्य को भी स्वदेश की सेवा मे अर्पित कर दिया है, वह भला देश की आँखों में क्यो न बसे — देश उसकी चरण-धूलि को मस्तक पर लगाकर कृत-कृत्य क्यों न हो!

स्वदेश लौटकर वह विनय आदि ग्रन्थो के अनुवाद मे दत्त-चित्त हो गया। शिक्षानन्द, ईश्वर आदि कोई नौ भारतीय भिक्षु अनुवाद करने मे उसकी सहायता करते रहे। घर पर उसने १३० ग्रन्थ-खण्डों मे ५६ पुस्तकों का अनुवाद पूर्ण किया। यह सन् सात सौ से सात-सौ बारह ई० के बीच के तेरह वर्ष लम्बे समय के अनवरत परिश्रम का फल था। इनमे कुछ पहले का अनुवाद भी सम्मिलित है। इन ग्रन्थों में अनेक महत्त्व-पूर्ण सूत्र और शास्त्र-विवेचन भरे पड़े हैं। अपने अनुवाद में उसने मूलसर्वास्तिवाद निकाय को पूर्ण कर दिया है। विनय-सम्बन्धी बहुत-से ग्रन्थों का संग्रह

इण्डिया ऑफिस और बोडेलियन लाइब्रेरी (Oxford) मे मिलता है। इनमे से कुछ मुख्य ये है—'विनय-सूत्र' १ भाग, 'विनय' ५० भाग, 'सम्युक्तवस्तु' ४० भाग, 'सङ्घ-भेदकवस्तु' २० भाग, 'भिक्षुणी-विनय' २० भाग, 'विनय-संग्रह' १४ भाग, 'एकशतकर्मन' १० भाग, 'निदान' ५ भाग, 'मातृका' ५ भाग, 'विनय-निदान-मातृका-गाथा' (१५ पत्तों मे), 'सम्युक्तवस्तु-गाथा' (१० पत्तो मे), 'विनय-गाथा' ४ भाग, 'भिक्षुणी-विनय-सूत्र' २ भाग, 'मूलसर्वास्ति-वाद-प्रव्रज्या-(उपसम्पदा)-वस्तु' ४ भाग, 'मूलसर्वास्ति-वाद वर्षावाद-वस्तु' १ भाग, 'मूलसर्वास्तिवाद-प्रवारण-वस्तु' १ भाग, 'मूलसर्वास्तिवाद-भैषज्य-वस्तु' १८ भाग, 'मूलसर्वास्तिवाद-चर्म-वस्तु' १ भाग तथा मूलसर्वास्ति-वाद-कठिन-चीवर वस्तु' १ भाग। इनमे मूलसर्वास्तिवाद वाले जितने ग्रन्थ हैं, सब महावग्ग के अनुरूप हैं। वस्तुतः उसने मूलसर्वास्तिवाद-निकाय के प्रचार के लिए बहुत परिश्रम किया। उसने एक नवीन सम्प्रदाय भी चलाया।

उसके कर्मठ जीवन, उसकी दृढ़ प्रतिज्ञा, उसके अनोखे कार्य, उसके परिश्रम, उसकी स्वदेश-प्रियता तथा उसके त्याग को देखकर उसके समकालीन सम्राट् 'चुङ्ग-त्सुङ्ग' ने अपनी त्रिपिटक-नामावली की भूमिका मे उसकी बड़ी प्रशंसा की है।

करीब तेरह-चौदह सौ वर्ष हुए, उसका नश्वर शरीर इस संसार से नष्ट हो गया। फिर भी अपने त्याग,

साहस, परिश्रम और कर्त्तव्य के रूप में हम सब के बीच वह अमर है।

सन् ७१३ ई० में, उनासी वर्ष की अवस्था में उसका देहावसान हुआ। उसके निधन से सारा चीन विह्वल हो उठा था।

